अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञान

समिद्धोऽअञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम्॥१॥

१. प्रभुभक्त का पहला लक्षण यह है कि **समिद्धः**=वह ज्ञान से दीप्त होता है। जीवन का प्रथमाश्रम 'ब्रह्मचाश्रम' है, यह आश्रम ज्ञान के भक्षण का है। २. यह प्रभुभक्त **मतीनाम्**=विचारशीलताओं के **कृदरम्**=उदर को **अञ्जन्**=प्रकट करता है। इसके व्यवहार में सदा विचारशीला का आभास मिलता है। यह कोई भी काम नासमझी से नहीं करता। इसके कार्यों में कुशलता होती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मधुमत्**=मधु से युक्त **घृतम्**=घृत को **पिन्वमानः**=अपने में सींचनेवाला बनता है, अर्थात् 'मधु व घृत' आदि पदार्थों का सेवन करता है। ४. इन उत्तम पदार्थों का सेवन करता हुआ **वाजी**=तू शक्तिशाली बनता है और **वाजिनम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **वहन्**=अपने हृदय में धारण करता है। ५. प्रभु को हृदय में धारण करने से **जातवेदः**=आविर्भूत ज्योतिवाला होता है, अतः तुझमें ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। ६. तू अपने को **देवानाम्**=देवों के **प्रियम्**=प्रिय **सधस्थम्**=मिलकर बैठने के स्थान को **आवक्षि**=सर्वथा प्राप्त कराता है, अर्थात् तू सदा ऐसे सत्संगों में उपस्थित होता है, जिनमें विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रीतिपूर्वक ज्ञानचर्चा करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त के जीवन में ज्ञान का सर्वोपरि स्थान होता है। उसे यह पता है कि ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवों से सम्पर्क

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन्वाज्यप्येतु देवान्।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताꣳस्वधामस्मै यजमानाय धेहि॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार एक प्रभुभक्त अपने जीवन को ज्ञानमय बनाने का प्रयत्न करता है। यह 'बृहदुक्थ' बनता है, खूब ही प्रभु का स्तवन करता है। 'वामदेव' अपने जीवन में **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **समञ्जम्**=व्यक्त करता है, अर्थात् सदा देवयान मार्गों से चलता है। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है और **वाजी**=शक्तिशाली व ज्ञानी **अपि**=होता हुआ भी **देवान्**=देवों को **एतु**=प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनकर भी देवों के संग को प्राप्त करता है। ४. हे **सप्ते**=(सपतिः परिचरणकर्मा-नि० ३.५) ज्ञानपूर्वक कार्यों से प्रभु की परिचर्या (उपासना) करनेवाले जीव! **प्रदिशः**=यह सब प्रकृष्ट दिशाएँ **त्वा**=तुझे **अनुसचन्ताम्**=अनुकूल होकर प्राप्त हों, अर्थात् तेरा इन दिशाओं में रहनेवाले किसी भी व्यक्ति से वैर-विरोध न हो। ५. **अस्मै**=इस **यजमानाय**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले विद्वान् के लिए (यज=संगतिकरण)

स्वधाम्=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **धेहि**=तू धारण कर, अर्थात् तू विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाला बन। जहाँ विद्वान् अतिथियों का स्वागत होता है वहीं उनका आना-जाना बना रहता है। इन देवों के सम्पर्क से ही सत्कर्म बने रहते हैं, उन घरों में वैर-विरोध का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—हम सन्मार्ग से चलनेवाले हों, देवों के सम्पर्क में आएँ, विद्वान् अतिथियों का सत्कार करनेवाले हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईड्य व वन्द्य

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः॥३॥

१. हे बृहदुक्थ! तू देवयानमार्ग को अपनाकर अपने सुन्दर व्यवहार के कारण **ईड्यः च असि**=स्तुति के योग्य है, चारों ओर तेरा यश-ही-यश है। **वन्द्यः च**=जब लोग तुझे देखते हैं तो उनसे वन्दना के योग्य तू होता है। २. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली! **सप्ते**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु का परिचरण करनेवाले! तू **आशुः च असि**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला है और **मेध्यः च**=(मेध=यज्ञ) यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाला है। ३. **देवैः**=देवताओं के साथ, दिव्यवृत्तिवालों के साथ तथा **वसुभिः**=उत्तम निवासवालों के साथ **सजोषाः**=प्रीतियुक्त वह **अग्निः**=पावक प्रभु जो **जातवेदाः**=प्रत्येक पदार्थ को जाननेवाले हैं, वे **प्रीतम्**=सदा प्रसन्न रहनेवाले 'सन्तुष्टो येन केनचित्' तथा **वह्निम्**=अपने कर्त्तव्य का वहन करनेवाले **त्वा**=तुझको सिद्धि तक पहुँचानेवाले हों। २. मन्त्रार्थ से यह सुव्यक्त है कि प्रभु को वे व्यक्ति प्रिय हैं जो (क) देव बनते हैं, (ख) अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, जिनके शरीर में रोग नहीं, मन में आधियाँ नहीं तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तियाँ हैं, (ग) जो अपने कर्त्तव्य का वहन करते हैं (वह्नि), परन्तु फल की चिन्ता न करते हुए सदा सन्तुष्ट रहते है (प्रीतम्)। मन्त्रार्थ में यह बात भी स्पष्ट है कि मनुष्य अपना कर्म करता जाए, सिद्धि तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं (वहतु)।

भावार्थ—हम अपने उत्तम कर्मों से ईड्य व वन्द्य बनें। यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगे रहें। देव, वसु, प्रीत (सन्तुष्ट) व वह्नि (कर्त्तव्य को करनेवाले) बनकर प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सुवित में स्थापन

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तब हमारा हृदय प्रभु की भावना से आच्छादित होने के कारण बड़ा सुरक्षित होता है। इस अमृत प्रभु से **स्तीर्णम्**=आच्छादित **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आजुषाणा**=सब प्रकार से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **सुष्टरीमा**=उत्तमता से आच्छादित करें। प्रभुस्मरण से हृदय सुरक्षित रहता है, परन्तु कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करने से और अधिक सुरक्षित हो जाता है। २. इस **उरु पृथु**=खूब विशाल **पृथिव्यां प्रथमानम्**=विशालता के कारण पृथिवी में प्रख्यात होते हुए **देवेभिः युक्तम्**=दिव्य गुणों से युक्त हृदय को, **सजोषाः अदितिः**=इस बृहदुक्थ के साथ प्रीतिवाली

अदीना देवमाता **स्योनं कृण्वाना**=सुखमय करती हुई, **सुविते**=(सु इते) उत्तम आचरण में **दधातु**=स्थापित करें। ३. जब जीव हृदय को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है तब प्रभु उसके सहायक होते हैं, प्रभु ही 'अदिति' हैं, हममें दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाले है। ये प्रभु हमारे जीवन को सुखमय बनाने के हेतु से हमारे हृदयों को सन्मार्ग में स्थित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को वासनाओं से सुरक्षित करके सन्मार्ग में स्थापित करें। प्रभुकृपा से हमारे हृदय विशाल हों, विशालता के कारण ही उनकी ख्याति हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुप्रायण द्वार

एताऽउ॑ वः सुभगा॑ वि॒श्वरू॑पा॒ वि पक्षो॑भिः श्रयमाणा॒ऽउदा॑तैः।
कृ॒ष्वाः स॒तीः क॒वष॒ः शुम्भ॑माना॒ द्वारो॑ दे॒वीः सु॑प्राय॒णा भ॑वन्तु॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे हृदय सुरक्षित होते हैं, उनमें विशालता होती है और इस प्रकार जब ये वासनाशून्य बनते हैं तब हमारे सब इन्द्रियद्वार उत्तम होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **एताः**=ये **द्वारः**=इन्द्रियद्वार **उ**=निश्चय से **भवन्तु**=हों। कैसे? (क) **सुभगाः**=उत्तम भगवाले। भग, अर्थात् 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति' रूप धर्मोंवाले हों। (ख) **विश्वरूपाः**=इस विश्व व संसार का बड़ी सुन्दरता से निरूपण करनेवाले हों। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से इस पाञ्चभौतिक संसार का ठीक-ठीक ग्रहण होता ही है। (ग) **उद् आतैः**=उत्कृष्ट गमनों के द्वारा, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से सदा उत्तम कर्म को करने के द्वारा **विपक्षोभिः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप विविध (पक्ष परिग्रहे) परिग्रहों से **श्रयमाणाः**=आश्रय किये जाते हुए हों। कर्मों से ही ज्ञान व उपासना भी साध्य हैं। (घ) **कृष्वाः सतीः**=उल्लिखित परिग्रहों से महान् बनते हुए ये द्वार **कवषः**=(कुशके, षोऽन्तकर्मणि) प्रभुनामोच्चारण से बुरी भावनाओं का अन्त करनेवाले हों। (ङ) बुरी भावनाओं के अन्त से **शुम्भमानाः**=सद्गुणों से सुशोभित होते हुए ये द्वार **देवीः**=दिव्य बनें और (च) **सुप्रायणाः**=उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, इनसे कभी कोई अवाञ्छनीय कर्म न हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाले हों। प्रभुनामोच्चारण से बुराइयों को नष्ट करनेवाले होकर सुन्दर व दिव्य बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः-सायं (सुहिरण्य-सुशिल्प)

अ॒न्त॒रा मि॒त्रावरु॑णा॒ चर॑न्ती॒ मुख॑ं य॒ज्ञाना॑मभि॒ संवि॑दा॒ने।
उ॒षासा॑ वाꣳसुहिर॒ण्ये सु॑शि॒ल्पेऽऋ॒तस्य॒ योना॑वि॒ह सा॑दयामि॥६॥

१. प्रभु यजमान व यजमानपत्नी से कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार जब तुम अपने इन्द्रियद्वारों को सुन्दर बनाते हो तो मैं **वाम्**=तुम दोनों के **उषासा**=उषाकालों को (द्विवचन के कारण यहाँ प्रातः व सायं की संध्या से अभिप्राय है) दोनों संध्याकालों को **इह**=इस जीवन में **ऋतस्य योनौ सादयामि**=यज्ञाग्नि के उत्पत्तिस्थान में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम्हारे घरों में दोनों कालों में यज्ञ चलता रहे। प्रातः का यह अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रातः तक सौमनस्य का देनेवाला होता है। २. ये उषाकाल सदा **मित्रावरुणा अन्तरा चरन्ती**=स्नेह व द्वेषनिवारण में चलनेवाले होते है, अर्थात् तुम्हारा प्रातः-सायं यह

संकल्प होता है कि हम स्नेह करनेवाले होगें और द्वेष से दूर रहेंगे। ३. वे उषाकाल **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **मुखम्**=प्रारम्भकाल का **अभिसंविदाने**=प्रतिपादन करनेवाले होते हैं। मानो ये कहते हैं कि 'अब उठो, यह अग्निहोत्र का समय है, इस समय उठकर अब यज्ञ की तैयारी करनी चाहिए'। ४. **सुहिरण्ये**=वे उषाकाल तुम्हारे लिए सुन्दर, हित व रमणीय हैं अथवा उत्तम ज्योतिवाले हैं 'हिरण्यं वै ज्योतिः'। ५. **सुशिल्पे**=उत्तम शिल्प क्रियावाले हैं, अर्थात् तुम इन समयों में सदा उत्तमता से कर्म करनेवाले होते हो। ६. 'ऋतस्य योनौ' की भावना यह भी है कि ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुम दोनों समय ध्यान करते हो।

भावार्थ—हमारे उषःकाल स्नेह व निर्द्वेषता के संकल्पवाले हों, हम इनमें यज्ञों के करनेवाले हों, स्वाध्याय व उत्तम कर्मों से इन्हें सुन्दर बनाएँ और दोनों कालों में अपने को ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें, अर्थात् दोनों समय ध्यान करें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कैसे बनें?

प्रथमा वाꣳसरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को जो (क) **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हो और मनुष्यों में प्रथम श्रेणी में स्थित होते हो, (ख) **सरथिना**=मिलकर इस गृहस्थ की गाड़ी को खैंचनेवाले हो, (ग) **सुवर्णा**=स्वास्थ्य के कारण उत्तम वर्णवाले हो अथवा उत्तमता से प्रभु का वर्णन करनेवाले हो, (घ) **देवौ**=दिव्य गुणों से युक्त हो, देववृत्तिवाले हो, (ङ) **विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ**=सब प्राणियों का ध्यान करते हो (Look after) अथवा सबसे प्रीतिवाले हो (कान्ति), केवल अपने ही पेट भरने के लिए नहीं जीते, (च) **वाम्**=इन तुम दोनों को जो **चोदना**=शास्त्रीय प्रेरणाओं को **मिमाना**=क्रियारूप में ला रहे हो। (छ) **होतारा**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, (ज) **प्रदिशा**=बड़े उत्कृष्ट मार्ग से **ज्योतिः**=ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हो, अर्थात् किसी की हिंसा न करते हुए तुम सबके लिए उत्कृष्ट ज्ञान देते हो, (झ) इस प्रकार के बने तुम दोनों को **अपिप्रयम्**=मैं चाहता हूँ, अर्थात् प्रभु कहते हैं कि मेरी इच्छा है कि तुम ऐसे बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी का प्रयत्न होना चाहिए कि वे 'प्रथम, सरथी, देव, सर्वपालक, वेद-प्रेरणानुसार क्रियायों के कर्त्ता, होता तथा ज्ञानोपदेष्टा' बनें।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आदित्य, रुद्र, वसु

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥८॥

१. **आदित्यैः**='आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से **नः**=हममें उत्पन्न हुई-हुई **भारती**=सूर्य के समान ज्ञान की दीप्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क से हमें ज्ञान प्राप्त हो और उस ज्ञान को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। २. **रुद्रैः**='रुद्र' विद्वानों के **सह**=साथ रहने से उत्पन्न हुई-हुई **नः**=हमारी यह **सरस्वती**=प्रशस्त विज्ञानवाली वाणी **आवीत्**=रक्षा करे।

३६ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करनेवाले मध्यम श्रेणी के विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं। इनके सम्पर्क से मनुष्य शिक्षित व सभ्य बनता है। यही 'सरस्वती' का विकास है। यह विकसित हुई-हुई सरस्वती हमें वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाली हो। ३. **वसुभिः**='वसु' नामक प्रथम कक्षा के विद्वानों से **सजोषा**=प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **उपहूता**=पुकारी गई **इडा**=यह वेदवाणी भी (अवतु) हमारी रक्षा करे। ४. इस प्रकार **देवीः**=(देव्यः) हे 'भारती-सरस्वती व इडा' नामक देवियो! **नः**=हममें से **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **यज्ञम्**=यज्ञ की भावना को धारण कीजिए, हमारे जीवन को यज्ञशील बनाइए।

भावार्थ—'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का उच्च ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'आदित्य' हैं। 'प्रकृति व जीव' का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'रुद्र' हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'वसु' हैं। इनकी कृपा से हम में क्रमशः 'भारती, सरस्वती व इडा' का जन्म होता है। 'भारती' ज्ञान है। 'सरस्वती' शिक्षा व सभ्यता है। 'इडा' (A Law) जीवन का एक नियमहै। ये सबके सब हमें विषयों के पीछे न मरनेवाला=अमृत बनाते हैं। ये हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायतऽआशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह यक्षि होतः॥९॥

१. 'त्वष्टा' शब्द 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' त्विष धातु से बनकर ज्ञान से दीप्त आचार्य का वाचक है। 'त्वक्षेतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः' त्वक्ष धातु से बनकर यह उत्तम विद्यार्थी का निर्माण करनेवाले आचार्य का वाचक है। यह **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त आचार्य **वीरम्**=वीरता से युक्त, वीर भावनावाले **देवकामम्**=देवताओं की कामनावाले शिष्य को **जजान**=द्वितीय जन्म देता है। माता-पिता से पैदा हुए-हुए इस विद्यार्थी को आचार्य वीर व दिव्यगुणों की कामनावाला बनाकर एक नया जन्म दे देता है। २. **त्वष्टुः**=इस विद्यार्थी के उत्तम जीवन का निर्माण करनेवाले आचार्य से **अर्वा**=काम, क्रोधादि वासनाओं का संहार करनेवाला, **आशुः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाला **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त व्यक्ति **जायते**=उत्पन्न होता है, अर्थात् आचार्य विद्यार्थी को इस प्रकार की शिक्षा देता है कि वह वासनाओं को जीतनेवाला, कर्मव्याप्त जीवनवाला, आलस्यशून्य बनता है। ३. **त्वष्टा**=यह विद्यार्थी के जीवन का निर्माता आचार्य **इदं भुवनम्**=इस भूतग्राम को **विश्वम्**=(सर्वं) पूर्ण **जजान**=बनाता है, अर्थात् यह उसके शरीर को स्वस्थ व नीरोग, मन को निर्मल, वासनाशून्य तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। शरीर से इसे 'वसु'=उत्तम निवासवाला, मन से 'रुद्र'=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारणपूर्वक वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला तथा मस्तिष्क से 'आदित्य'=सब ज्ञानों का आदान करनेवाला बनाता है। इसके मस्तिष्क में 'भारती' का निवास कराता है, मन में 'सरस्वती' का तथा शरीर में 'इडा' का। इस प्रकार आचार्य अपने विद्यार्थियों के जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है। ४. इस प्रकार **बहोः कर्त्तारम्**=(बह् to strengthen, to make firm) दृढ़ व सबल जीवन का निर्माण करनेवाले इस आचार्य को **इह**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में हे **होतः**=आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले विद्यार्थी! तू **यक्षि**=आदर देनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'वीर, देवकाम, अर्वा, आशु, अश्व, विश्वं (पूर्ण) व बहु (दृढ़)' बनाये। विद्यार्थी आचार्य के प्रति सदा सन्मान की भावनावाला हो।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्व

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्तऽउप देवाँ२॥ऽऋतुशः पाथऽएतु।
वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत्॥१०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'त्वष्टा' आचार्य विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता है तब यह **अश्वः** =सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **त्मन्या**=स्वयं **घृतेन**=मलों के क्षरण से, मलों के दूरीकरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **समक्तः**=अलंकृत हो जाता है (घृ क्षरणदीप्तयोः) २. यह अश्व **ऋतुशः**=ऋतु के अनुसार **पाथे**=मार्ग पर चलता हुआ (पथ गतौ) **देवान्**=देवों के **उप एतु**=समीप प्राप्त होता है। इसका जीवन कर्मव्याप्त होता है, यह ऋतु के अनुसार बड़े नियमित जीवनवाला होता है और इसी कारण मनुष्यों से ऊपर उठता हुआ यह 'देव' बन जाता है। ३. यह **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का स्वामी **देवलोकं प्रजानन्**=(हेतौ शतृ) देवलोक को जानने व अनुभव करने के हेतु से, देवलोक को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से **अग्निना स्वदितानि**=अग्नि से स्वाद लिये गये **हव्या**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षत्**=अपने को प्राप्त कराता है, अर्थात् पहले अग्निहोत्र आदि यज्ञों में यह हव्य पदार्थों को डालता है और यज्ञशेष का ही सेवन करता है। यह यज्ञशेष का सेवन इसे अमृतत्व प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ— कर्मव्याप्त जीव निर्मल व ज्ञानी बनता है। यह मार्ग पर चलता हुआ देवों के समीप पहुँचता है। देवलोक को प्राप्त करने की कामना से यज्ञशेष का सेवन करता है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप द्वारा वर्धन

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः॥११॥

१. **प्रजापतेः**=प्रजापति के **तपसा**=तप से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ, अर्थात् प्रजापति जैसे तप से सृष्टि का निर्माण करते हैं, इसी प्रकार तू भी तप से अपने जीवन का निर्माण करता है। २. तप से वृद्धि को प्राप्त करते हुए **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सद्यः जातः**=शीघ्र ही आचार्यकुल से द्वितीय जन्म को प्राप्त करके **यज्ञं दधिषे**=यज्ञ को धारण करता है। गृहस्थ बनने पर तू पाँचों यज्ञों को करनेवाला बनता है। ३. प्रभु कहते हैं कि तू **स्वाहाकृतेन**=स्वार्थत्याग के द्वारा किये हुए इन यज्ञों से **हविषा** =दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **पुरोगाः**=आगे और आगे जानेवाला होकर **याहि**=जीवनयात्रा में चल। ६. **साध्या देवाः**=(साधनात् नि० १२।४०)=साधना करनेवाले देव **हविः अदन्तु**=सदा हवि का ही सेवन करें। वस्तुतः देव की मूलसाधना है ही यही कि वे यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—अग्रगामी जीवन में तप है, यज्ञ है। सबसे बड़ी साधना त्याग ही है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्वा

यदक्रन्दः प्रथमं जायमानऽउद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहूऽउपस्तुत्यं महि जातं तेऽअर्वन्॥१२॥

१. अब अध्याय के अन्त तक मन्त्र 'भार्गवजमदग्नि' के हैं। 'भृगु का अपत्य' भार्गव है, अपने ज्ञान को पूर्ण परिपाक करनेवाला (भ्रस्ज पाके)। जिसके वहाँ अग्नियाँ जीमती हैं, अग्नियों को हव्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वह 'जमदग्नि' है। यह निमयपूर्वक अग्निहोत्रादि करनेवाला है। यह **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र आचार्य से ('तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=तप करता हुआ आचार्य के समीप रहता है)। **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=तथा **पुरीषात्**=(पृ पालनपूरणयोः) तीनों आश्रमियों का पालन व पूरण करनेवाले इस गृहस्थाश्रम से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त करता हुआ **यत्**=जो **जायमानः**=प्रतिदिन निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ, अर्थात् जागरितावस्था में आता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पहले, किसी भी अन्य क्रिया को करने से पहले **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है (क्रदि आह्वाने) २. इसके **पक्षौ**=(पक्ष परिग्रहे)=ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=(श्यैङ् गतौ) बाज़ की भाँति गतिशील होते हैं, अर्थात् इसका ज्ञान इसे कर्म में प्रवृत्त करता है और यह कर्मों द्वारा ही प्रभु की उपासना करता है। ३. इसकी **बाहू**=बाहुएँ, भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की भाँति दुःखों के हरण करनेवाले पुरुष की होती हैं, अर्थात् ये अपने प्रयत्नों से औरों के दुःख दूर करने में लगे रहते हैं। ४. हे **अर्वन्**=(अर्व to kill) प्रभु-स्मरण के द्वारा कर्मों में लगे रहने के द्वारा तथा लोकहित में प्रवृत्ति से वासनाओं के संहार करनेवाले जीव! **ते**=तेरा यह सब कर्म **महि उपस्तुत्यम्**=बड़ा स्तुति के योग्य **जातम्**=हो गया है, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से तुझे यश-ही-यश मिला है।

भावार्थ—उठते ही हम प्रभु-स्तवन करें, आचार्य के समीप रहकर उन्नति को प्राप्त करें, गृहस्थ में सभी का पालन-पोषण करते हुए हम उन्नत हों। हमारा ज्ञान व उपासन हमें गतिशील बनाएँ। हमारे प्रयत्न औरों का दुःख हरण करने के लिए हों। इस प्रकार वासनाओं का संहार करने पर हमारा जीवन उत्तम होगा।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रित, इन्द्र, गन्धर्व तथा वसु

यमेन॑ दत्तं त्रि॒तऽए॑नमायुनगिन्द्रऽएणं प्रथ॒मोऽअध्यति॑ष्ठत्।
गन्ध॒र्वोऽअ॑स्य रश॒नामगृभ्णात्सू॒रादश्वं॑ वसवो निर॑तष्ट॥१३॥

१. **यमेन**=सृष्टि के नियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनं अश्वम्**=इस इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः** (त्रीन् तनोति)=ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला यह त्रित **आयुनक्**=ज्ञान, कर्म व उपासना में लगाता है, अथवा इस शरीररूप रथ में जोतता है। वस्तुतः इन ज्ञानादि में लगे रहने पर ही यह इन्द्रियाश्व हमारे वशीभूत होता है, इसका हम नियमन कर पाते हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **एणं अध्यतिष्ठत्**=इसपर अधिष्ठित होता है, इसको वशीभूत करता है। ३. **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयतीति) वेदवाणी का धारक ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूपी लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना ही वह उपाय है जिससे यह इन्द्रियाश्व हमारे वश में रहता है। ४. **सूरात्**=सूर्य से **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोग **निरतष्ट**=बनाते हैं। सूर्य जैसे निरन्तर चल रहा है उसी प्रकार निरन्तर गति के द्वारा इन इन्द्रियाश्वों का निर्माण होता है। क्रियाशून्यता से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

भावार्थ—त्रित इन्द्रियाश्वों को जोतता है, इन्द्र इसका अधिष्ठाता बनता है, गन्धर्व

इसकी लगाम पकड़ता है, वसु इसका निर्माण करते हैं। 'त्रित' इन अश्वों को 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगाये रखता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय इन्हें वश में करता है 'ज्ञान में लगा पुरुष' इनकी लगाम को थामता है और 'निवास को उत्तम बनानेवाले' क्रियाशीलता द्वारा इन्हें सशक्त बनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यम-आदित्य

असि॑ य॒मोऽअस्यादि॒त्योऽअर्व॒न्नसि॑ त्रि॒तो गुह्ये॑न व्र॒तेन॑।
असि॒ सोमे॑न स॒मया॒ विपृ॑क्तऽआ॒हुस्ते॒ त्रीणि॑ दि॒वि बन्ध॑नानि॥१४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियाश्वों को संयत करनेवाले के लिए कहते हैं कि तू **यमः असि**=इन्द्रियाश्वों का नियमन करनेवाला है, इसीलिए **आदित्यः असि**=उत्तमताओं व ज्ञान का आदान करनेवाला है। २. **अर्वन्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा से सम्बद्ध इस ब्रह्मचर्य के व्रत के द्वारा **त्रितः असि**='ऋग्, यजुः व साम' का विस्तार करनेवाला है, अथवा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को विस्तृत करता है, 'त्रीन् तरति' यह भी ठीक है कि तू काम, क्रोध व लोभ को तैर जाता है। ३. इस ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा तू **सोमेन**=सोमशक्ति से, वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से सम्बद्ध होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का धारण करके तू शरीर में वीर्य को सुरक्षित करनेवाला बनता है। ५. इस सोम के सुरक्षित होने के कारण **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि**='ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् सोम को मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाने पर तेरे मस्तिष्क में ऋग्, यजुः व साम का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करते हैं तो ज्ञान को ग्रहण करनेवाले आदित्य बनते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा हम सोम को सुरक्षित करते हैं और मस्तिष्क में 'ऋग्, यजुः व साम' को बाँधनेवाले होते है, अर्थात् इनके ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नौ व्रत अथवा परम जनित्र

त्रीणि॑ त॒ऽआहुर्दि॒वि बन्ध॑नानि॒ त्रीण्य॒प्सु त्रीण्य॒न्तः स॑मु॒द्रे।
उ॒तेव॑ मे॒ वरु॑णश्छन्त्स्यर्व॒न्यत्रा॑ त॒ऽआहुः प॑र॒मं ज॒नित्र॑म्॥१५॥

१. हे भार्गव जमदग्ने! **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धननि**=तीन बन्धन हैं, अर्थात् तू मस्तिष्क के विषय में तीन व्रतों में अपने को बाँधता है, (क) ऋग्वेद के द्वारा मैं प्रकृति का विज्ञान प्राप्त करूँगा, (ख) यजुर्वेद द्वारा मैं जीवन के कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करूँगा और (ग) सामवेद के द्वारा मैं उपास्य प्रभु से परिचित होने का प्रयत्न करूँगा। २. **त्रीणि अप्सु** (आपोमयाः प्राणाः) प्राणों के विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'प्राण अपान, व्यान' अथवा 'भूः, भुवः, स्वः' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' इन शब्दों से व्यक्त होते हैं। तू प्राणसाधना करके स्वस्थ बनता है, ज्ञानी बनता है, जितेन्द्रिय होने का प्रयत्न करता है। ३. **अन्तः समुद्रे**=(समुद्रम् अन्तरिक्षम्) इस अन्दर के समुद्र, अर्थात् सदा मोद व प्रसन्नता के साथ रहनेवाले (स+मुद्) हृदयान्तरिक्ष में **त्रीणि**=तेरे तीन बन्धन हैं। तेरा यह व्रत है कि (क) मैं इस हृदय को कामवासना से

आक्रान्त न होने दूँगा। (ख) मैं इसे क्रोधाभिभूत न होने दूँगा तथा (ग) मैं इसे लोभाविष्ट भी नहीं होने दूँगा। ४. **उत इव**=(=अपि च) और इस प्रकार **वरुणः**=श्रेष्ठ (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) बनकर तू **मे**=मेरी **छन्त्सि**=(छन्दतिरर्चतिकर्मा) अर्चना व पूजा करता है। यह तेरा नौ व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही तेरी उपासना हो जाती है। यही वस्तुतः 'नवधा' भक्ति है। ५. हे **अर्वन्**=सब वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! ये बन्धन ही वे बाते हैं **यत्र**=जहाँ **ते**=तेरे **परमं जनित्रम्**=सर्वोत्कृष्ट विकास को **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् ये व्रत का जीवन ही तुझे सर्वोत्कृष्ट विकास तक पहुँचाएगा।

भावार्थ—मनुष्य को मन्त्रवर्णित नौ व्रत धारण करने चाहिएँ। इन्हीं को प्रभु की उपासना समझना चाहिए। ये व्रत ही उसके जीवन का परम विकास करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

व्रतों के लाभ

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाꣳसनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशनाऽअपश्यमृतस्य याऽअभिरक्षन्ति गोपाः॥१६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रत मनुष्य को शक्तिशाली बनाते हैं, अतः उस व्रती का सम्बोधन ही 'वाजिन्' शब्द से करते हैं। हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **इमा**=ये व्रत ही **ते**=तेरे **अवमार्जनानि**=पापों का शोधन करनेवाले हो जाते हैं। व्रतों से जीवन पवित्र होता है। २. **इमा**=ये व्रत **सनितुः**=संविभागपूर्वक अन्नादि का सेवन करनेवाले व्रती पुरुष के जीवन में **शफानाम्**=(शम्)=शान्ति के **निधाना**=स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती पुरुष संविभागपूर्वक खाने को अपना महान् व्रत समझता है। यह संविभागपूर्वक खाना ही शान्ति का कारण बनता है। संसार के अन्दर 'परिग्रह'=सब-कुछ अपने लिए जुटाने की प्रवृत्ति ही संघर्षों व अशान्तियों का कारण है। ३. **अत्र**=यहाँ—इस व्रती जीवन में ही **ते**=तेरी **भद्रा**=कल्याणकर **रशना**=मेखला को **अपश्यम्**=देखता हूँ। रशना वा मेखला शब्द दृढ़ निश्चय के प्रतीक हैं। **याः**=जो मेखलाएँ व दृढ़ निश्चय **ऋतस्य अभिरक्षन्ति**=ऋत का रक्षण करते हैं। दृढ़ निश्चय होने पर मनुष्य ऋत से गिरता नहीं। **गोपाः**=ये निश्चय ही इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। विषय इतने सुन्दर व आकर्षक हैं कि ये इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। बड़ा दृढ़ निश्चय होने पर ही मनुष्य अपने को विषयपङ्क में डूबने से रोक पाता है।

भावार्थ—व्रत हमें पवित्र बनाते हैं, ये हमारी शान्ति के निधान हैं। इन व्रतों में किये हुए दृढ़ निश्चय हममें ऋत का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आत्मानं ते मनसाराद्जानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरोऽअपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥१७॥

१. प्रभु गतमन्त्र के 'व्रती' अतएव 'वाजी' पुरुष से कहते हैं कि **ते मनसा**=तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**=आत्मा को **आरात् अजानाम्**=समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं ऐसा देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्) इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतंगं पतयन्तम्** (अजानाम्)=सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान-मार्ग से जानेवाले व्यक्ति सूर्यद्वार से ही उस

अव्ययात्मा अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं। **'सूर्यद्वारणे ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**। ३. मैं **पतत्रि**=निरन्तर सूर्य की ओर चलनेवाले **शिरः**=तेरे इस मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित, रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल व सात्त्विक **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है, तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। सबसे निचला लोक असुर्यलोक है, उससे ऊपर मर्त्यलोक, उससे ऊपर पितृयाण मार्ग से प्राप्त होनेवाला चन्द्रलोक और फिर देवयान से प्राप्त सूर्यलोक और अन्त में ब्रह्मलोक। एक व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता चलता है और ऊँचा-और-ऊँचा उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु व्रतीपुरुष के समीप होते हैं, यह व्रतीपुरुष सूर्यमार्ग से प्रभु को प्राप्त करता है, यह रजोगुण से ऊपर उठता हुआ, सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभुरूप दर्शन

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिषऽआ पदे गोः।
यदा ते मर्त्तोऽअनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठऽओषधीरजीगः॥१८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मैं रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग पर चलता हूँ तब **अत्र**=यहाँ **ते**=तेरे **उत्तमम् रूपम्**=सर्वोत्तम सच्चिदानन्दरूप को **अपश्यम्**=देखता हूँ। जो तेरा रूप **जिगीषमाणम्**=मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है, अर्थात् आपके रूपदर्शन से ही मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। २. आपके दर्शन से मैं **गोः पदे**=इस वेदवाणी के पद में दिव्य प्रेरणाओं को **अपश्यम्**=अपने सारे जीवन के लिए देखता हूँ। मुझे इन वेदवाणियों से सुन्दर प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। ३. इन प्ररेणाएँ को सुननेवाला **ते मर्तः**=आपका यह मनुष्य **यत्**=जब **अनु**=यज्ञ के बाद **भोगम् आनट्**=भोग को व्याप्त करता है, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करता है, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इन शब्दों के अनुसार त्यागपूर्वक उपभोग में प्रवृत होता है **आत् इत्**=तभी सचमुच यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भक्षण करनेवाला होता है। अकेला खानेवाला तो निकृष्ट भोगी है। ४. यह उत्तम भोक्ता **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही निगरण करता है। यह कभी भी मांसमोजन में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलने से प्रभु का दर्शन होता है, क्रोधादि को हम जीत पाते हैं, वेदवाणी से प्रतिपादित मार्ग पर चलते हैं, यज्ञशेष का सेवन करते हैं, ओषधि-वनस्पतियों को अपनाते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वानुकूलता

अनु त्वा रथोऽअनु मर्योऽअर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनाम्।
अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनु देवा ममिरे वीर्यं ते॥१९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के उत्तम रूप को देखते हैं और ओषधि-वनस्पतियों

का ही सेवन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **रथः त्वा अनु**=यह शरीररूप रथ तेरे अनुकूल होता है, **मर्यः अनु**=सामान्य मनुष्य तेरे अनुकूल होते हैं। २. हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले विद्वन्! **गावः अनु**=सब इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती है, अथवा गौएँ तेरे अनुकूल होती है, तुझे स्वास्थ्यप्रद दूध देनेवाली होती है। **कनीनाम् भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है, अर्थात् तेरी पुत्रियाँ व पुत्रवधुएँ तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। तेरी पुत्रियाँ जहाँ भी जाती हैं वे तेरे घर की कीर्ति का कारण बनती हैं और तेरे घर में आई कन्याएँ भी तेरे घर की शोभा का कारण बनती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्यों के गण व समाज **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और ये सब **तव सख्यम् ईयुः**=तेरी मित्रता को प्राप्त करते है। ५. **देवाः**=सूर्यादि सब प्राकृतिक देव भी **अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **ते वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करते हैं। यह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ तेरे अनुकूल होकर तुझे सशक्त बनाती हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर हमें सारे संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यशृंग अयः पाद

हिर॑ण्यशृङ्गो॒ऽयो॑ऽअस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽअव॑र॒ऽइन्द्र॑ऽआसीत्।
दे॒वाऽइद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्योऽअर्व॑न्तं प्रथ॒मोऽअ॒ध्यति॑ष्ठत्॥२०॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अध्यतिष्ठत्**=इन इन्द्रियाश्वों पर अधिष्ठित होता है, अर्थात् इन इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में करता है, वह पुरुष **हिरण्यशृंगः**=(हिरण्यवत् शृंगं दीप्तिर्यस्य, शृंगमिति ज्वलन्नामसु पठितम्) स्वर्ण के समान देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है अथवा इसका शृंग—शिखर, अर्थात् मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमकता है और **अस्य पादाः**=इसके पैर **अयः**=लोहा होते हैं—लोहे की भाँति सुदृढ़ इसकी टाँगे होती है, मस्तिष्क में ज्ञान और पाँवों में चलने की शक्ति। २. यह **अवरः इन्द्रः**=उस महेन्द्र प्रभु का छोटा भाई उपेन्द्र (अवर इन्द्र) जीव **मनोजवा आसीत्**=मन में वेगवाला होता है, अर्थात् इसका मन बड़ा ठीक कार्य करनेवाला होता है। ३. **देवाः**=ज्ञानी—विद्वान् लोग **इत्**=निश्चय से **अस्य** इसके **अद्यम् हविः**=खाने योग्य हव्य पदार्थ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। इसके गृह पर आतिथिरूपेण आकर इसके आतिथ्य को स्वीकार करते हैं और सात्त्विक भोजन का सेवन करते हैं। वस्तुतः इनके निरन्तर सम्पर्क में बने रहने के कारण ही यह 'हिरण्यशृंग, अयः पाद, मनोजवाः' बन पाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रिय बनकर हम ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, सुदृढ़ पाँववाले, कार्यपटु मनवाले तथा देवों का आतिथ्य करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सꣳशू॑रणासो॒ दि॒व्यासो॒ऽअत्याः॑।
ह॒ꣳसाऽइ॑व॒ श्रेणि॑शो॒ यत॑न्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑॥२१॥

१. **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते ईर्मः प्रेरितः अन्तः येषां ते) जिनके प्रान्तभाग प्रकृष्ट गतिवाले हैं। गतमन्त्र में 'हिरण्यशृंगः अयो अस्य पादाः' इन शब्दों में मस्तिष्क की उज्ज्वलता व

पाँवों की सुदृढ़ता का उल्लेख हुआ था। वही यहाँ 'ईर्मान्तासः' शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है। इनका उज्ज्वल मस्तिष्क सब विषयों के समझने में खूब गतिशील है तो इनके पाँव सुदृढ़ हैं। २. **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः श्लिष्टः संलग्नो मध्यमो येषां ते कृशोदराः) इनका उदर पीठ से लगा हुआ है, अर्थात् ये कृश उदरवाले हैं। 'मस्तिष्क मजबूत, पाँव प्रबल, पर पेट पतला' यह है इन वीर पुरुषों का चित्रण। ३. **शूरणासः**=(शू शीघ्रं रणः युद्धविजयो येषां) शीघ्रता से युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले और अध्यात्म-विजय प्राप्त करके **दिव्यासः**=(दिवि भवाः) सदा प्रकाश में निवास करनेवाले **अत्याः**=सतत गतिशील ये होते हैं। ४. और **हंसा इव श्रेणिशः** =जैसे हंस पंक्ति में इक्ट्ठे उड़ते हैं, इसी प्रकार ये लोग भी **श्रेणिशः**=श्रेणियाँ बनाकर, **संयतन्ते**=मिलकर धनार्जन का प्रयत्न करते हैं। इसका यह परिणाम स्वाभाविक है कि धन का समाज में बहुत विषम विभाग नहीं हो पाता। ५. इस विषम विभाग के न होने से अतिधनी होकर ये धन व विषयों में डूब नहीं जाते और अति दरिद्र होकर भूखे नहीं मर जाते। इस प्रकार **अश्वाः**=शक्तिशाली बने हुए ये पुरुष **दिव्यम् अज्मम्**=सुन्दर दिव्य गुणों के पनपाने के कारणभूत मार्ग को **आक्षिषुः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा उस मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं, जो उनके जीवन को दिव्य बनाता है।

भावार्थ—हम प्रबल मस्तिष्क व पाँववाले हों, कृशोदर हों, युद्ध में शीघ्र विजयी, दिव्य व गतिशील बनें। हंसों की भाँति मिलकर सहकारी समितियों के रूप में काम करें और इस प्रकार शक्तिशाली बनकर दिव्य मार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**वायवः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पतयिष्णु-ध्रजीमान्

तव शरीरं पतयिष्णवर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥२२॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा यह शरीर **पतयिष्णु**=गति के स्वभाववाला हो, अर्थात् क्रिया तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वभाव बन जाए। तू सब अङ्गों से गतिशील बन। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गति व वेगवाला है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय के प्रति जानेवाला है। तेरा चित्त कभी शिथिल नहीं होता। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलतो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=विद्युत्, चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि अनेक विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हैं, अर्थात् तेरा ज्ञान व्यापक है। ४. यह तेरा शरीर, यह तेरा चित्त तथा ये तेरा ज्ञान **अरण्येषु**=एकान्त स्थानों में, उस प्रभु के ध्यान के द्वारा **जर्भुराणा**=(जर्भुराणानि) देदीप्यमान व (जृम्भ विकसने) विकसित होकर **चरन्ति**=अपना-अपना कार्य करते हैं।

भावार्थ— प्रभु के उपासन से शरीर की गतिशीलता, चित्त की विज्ञान-कुशलता व ज्ञानदीप्तियों की विविधता विकसित होती है।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'कवि व रेभ'—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वी देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः॥२३॥

१. **वाजी**=गतमन्त्र के अनुसार अरण्य प्रदेशों में उपासना के द्वारा शक्तिशाली बना

हुआ यह पुरुष **शसनम्**=वासनाओं के संहार को **उपप्रागात्**=समीपता से सम्यक्तया प्राप्त करता है। वस्तुतः शक्ति के साथ ही गुणों का वास होता है और निर्बलता में वासनाएँ पनपती हैं। २. शक्तिशाली बनकर **अर्वा**=वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'भार्गव' **देवद्रीचा**=(देवान् अञ्चति) दिव्य गुणों व दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के प्रति जानेवाले **मनसा**=मन से **दीध्यानः**=देदीप्यमान होता है। ३. इसके द्वारा अपने प्रत्येक कर्म में **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु **पुरः**=आगे **नीयते**=प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण करता है। ४. यह प्रभु ही **अस्य**=इस भार्गव के जीवन का **नाभिः**=केन्द्र होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में प्रभु को केन्द्र बनाकर चलता है। ५. **पश्चात्**=पीछे, अर्थात् प्रभु स्मरण के बाद **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**=स्तोता लोग **अनुयन्ति**=अनुकूलता से चलते हैं, अर्थात् लोगों के अविरोध से जीवनयापन करते हैं। ये किन्हीं भी लोकविद्विष्ट कार्यों को नहीं करते।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम देदीप्यमान जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारा केन्द्र हो। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भार्गवो जमदग्निः**। देवता—**मनुष्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ब्रह्मनिष्ठता का मार्ग

उप॒ प्रागा॑त्पर॒मं यत्स॒धस्थ॒मर्वाँ॑२॥ऽअच्छा॑ पि॒तर॑ं मा॒तर॑ं च।
अ॒द्या दे॒वाञ्जुष्ट॑तमो॒ हि ग॒म्याऽअथा शा॑स्ते दा॒शुषे॒ वार्या॑णि॥२४॥

१. **अर्वान्**=(नलोपाभावश्छान्दसः, अर्वा) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति उस स्थान को **उपप्रागात्**=प्राप्त हुआ है **यत्**=जो **परमं**=सर्वोत्कृष्ट **सधस्थम्**=परमात्मा व आत्मा का 'महेन्द्र व उपेन्द्र का' एकत्र स्थित होने का स्थान है। इसे ही मोक्षलोक कहते हैं, इसमें उपनिषद् के 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' शब्दों के अनुसार यह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ विचरता है। यह पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होकर सब कार्यों को किया करता है। २. यह अपने जीवन के प्रारम्भ में **मातरम् पितरम् च अच्छ**=माता और पिता की ओर **गम्याः**=जाता है। माता के शिक्षणालय में सच्चरित्र बनकर, पिता के शिक्षणालय में सदाचार का शिक्षण प्राप्त करता है। ३. और **अद्य**=आज सच्चरित्र, सदाचारी बनकर **जुष्टतमः**=प्रीततम होता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मन से ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता हुआ **हि**=निश्चय से **देवान्**=ज्ञानी विद्वानों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। इनके समीप रहकर ही तो यह विविध विद्याओं का अध्ययन करेगा। ४. अब यह आचार्य भी—इन विज्ञानी विद्वानों में से प्रत्येक विद्वान् **दाशुषे**=इस आत्मसमर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। आचार्य का प्रयत्न होता है कि वह इस जुष्टतम विद्यार्थी को ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करानेवाला हो सके।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश से हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए हमारे जीवन का निर्माण माता, पिता व आचार्यों के शिक्षणालय में सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान के शिक्षण से होता है। हम आचार्यों के प्रति अपना अर्पण करते हैं, आचार्य हमें ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का दूत

समिद्धोऽअद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥२५॥

१. 'गतमन्त्र का ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति किस प्रकार प्रभु को प्रीणित करता है' यह अगले १२ 'आप्री' मन्त्रों में वर्णन करते हैं। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की प्रथम विशेषता यह है कि **अद्य**=आज **मनुषः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **दुरोणे**=इस शरीररूप गृह में, जिसमें से सब बुराइयों का अपनयन (दूर) कर दिया है (ओण् अपनयने), **समिद्धः**=खूब ज्ञान की दीप्तिवाला बना है, अर्थात् यह इस शरीर को निर्मल बनाता है और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। २. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **जातवेदः**=जात-प्रज्ञानवाला होकर, अर्थात् ज्ञानी बनकर **देवः**=दानादि गुणों से युक्त हुआ-हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है, मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का ही संग करता है और सदा उनके लिए दानशील होता है। ३. हे **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त, तेजस्वितावाले (मित्रम् महो यस्य) ब्रह्मनिष्ठ पुरुष! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर, अर्थात् बड़ा समझदार बनकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वम् दूतः**=तू उस प्रभु का सन्देशवाहक है, प्रभु के दिये सन्देश को तूने मनुष्यमात्र तक पहुँचाना है। **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है, लोगों की मनोवृत्ति को समझकर उन्हें ठीक प्रकार से ही ज्ञान देनेवाला है, **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है। तू अपने ज्ञान के प्रसार से लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला होता है। इस प्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी ब्रह्मनिष्ठता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति (क) शरीर-गृह को पवित्र बनाकर ज्ञान संचय करता है, (ख) देवों के संघ में रहता है, (ग) स्नेहशील, तेजस्वितावाला बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है, (घ) यह प्रभु का बड़ा समझदार दूत बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तनूनपात्

तनूनपात्पथऽऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥२६॥

१. गत मन्त्र के ब्रह्मनिष्ठ का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट नहीं करता। २. **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को तू **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे वे सब आने-जाने के मार्ग माधुर्य से युक्त होते हैं। तू किसी को अपनी गतियों से पीड़ित नहीं करता। ३. **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! तू **स्वदया**=सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। तेरी वाणी से ऐसे मधुर शब्द उच्चरित होते हैं कि सुननेवाले को आनन्द की अनुभूति होती है। ४. तू **मन्मानि** =अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है। ५. **उत**=और **यज्ञम्**=तू अपने जीवन में यज्ञ को बढ़ाता है। ६. **च**=और **नः**=हमारे, हमसे उपदिष्ट, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदोपदेश द्वारा किये गये इस **अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=

देवों के विषय में तू **कृणुहि**=कर। ब्रह्मादि पाँचों यज्ञों को करनेवाला तू बन। ये यज्ञ ही तेरा इस लोक व परलोक में कल्याण करेंगे। यज्ञों से ही तू हमारी भी आराधना कर रहा होगा, अथवा **अध्वर**=किसी प्रकार की हिंसा करनेवाला तू न हो।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ को चाहिए कि (क) शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खे, (ख) ऋत के मार्ग का मुधरता से आक्रमण करे, (ग) मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करे। (घ) बुद्धियों से ज्ञान को बढ़ाए (ङ) यज्ञ को सिद्ध करे, (च) देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाला हो, अर्थात् उनकी हिंसा से दूर रहे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुक्रतु-शुचि

नराशꣳसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवाऽउभयानि हव्या॥२७॥

१. **नराशंसस्य**=मनुष्यों से शंसन के योग्य **यजतस्य**=सबके साथ संगतिकरणवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले (यज संगतिकरणदान) पूज्य (यज=पूजा) प्रभु की **एषाम्**=इन लोगों से **यज्ञैः**=लोकहित के कर्मों द्वारा होनेवाली **महिमानम्**=पूजा को **उपस्तोषाम्**=हम स्तुत करते हैं, अर्थात् इन लोगों से की जानेवाली प्रभु की महिमा (पूजा) की हम प्रशंसा करते हैं। **ये**=जो (क) **सुक्रतवः**=उत्तम संकल्प, कर्म व प्रज्ञानवाले हैं, (ख) **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र हैं। (ग) **धियन्धाः**=जो बुद्धि व ज्ञानपूर्वक कर्मों को धारण करनेवाले हैं, और (घ) जो **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **उभयानि**=बुद्धि व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से **हव्या**=ग्रहण योग्य पदार्थों को **स्वदन्ति**=आनन्द से सेवन करते हैं। ये खाने योग्य पदार्थों को ही खाते हैं और खाने योग्य पदार्थ इनके दृष्टिकोण में वे ही हैं जो बुद्धि के वर्धक हैं तथा स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हैं। ३. इस प्रकार ये लोग प्रभु की क्रियात्मिक भक्ति करते हैं, इनकी भक्ति दृश्यभक्ति है। यही भक्ति प्रशंसनीय है। केवल गुणानुवाद स्तवन तो श्रव्यभक्ति है, वह प्रभु को प्रीणित नहीं कर सकती। प्रभु तो हमारे कर्मों से ही प्रीणित होंगे।

भावार्थ—हम सुक्रतु, शुचि, धी-सम्पन्न व हव्यों के ग्रहण करनेवाले बनकर प्रभु की सच्ची भक्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ईड्य वन्द्य

आजुह्वानऽईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता सऽएनान्यक्षीषितो यजीयान्॥२८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए। जो आप (क) **आजुह्वानः**=(आहूयमानः) सभी से पुकारे जाते हैं, सज्जनों से सुख में, दुर्जनों से दुःख में, (ख) **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं, (ग) **वन्द्यः**=अभिवादनीय हैं, (घ) **वसुभिः सजोषाः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं, (ङ) उन देवों को भी वस्तुतः देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्', (च) **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले है। २. **सः**=वे आप **इषितः**=हमसे सत्कृत हुए-हुए **एतान्**=इन-हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। आप **यजीयान्**=अतिशयेन यष्टा हैं। अत्यन्त पूज्य हैं तथा हमें सब

आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य तथा वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, आप हमें प्राप्त होइए।

नोट—यह्व होता=यह्वः चासौ होता च।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अन्तरिक्षम्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः**।

विशाल व वासनाशून्य हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यतेऽअग्रेऽअह्नाम्।
व्युं प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्योऽअदितये स्योनम्॥२९॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'वसुभिः सजोषाः'—'वसुओं के साथ प्रीतिवाला' कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वसु' बनने के मार्ग का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि **अस्याः पृथिव्याः**= इस शरीर के (पृथिवी शरीरम्) **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=यह (प्र अञ्च्) अग्रगति की भावनावाला, वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही अर्थात् प्रातःकाल के समय **प्रदिशाः वृज्यते**=वेदोपदिष्ट मार्ग दोषवर्जित किया जाता है। हम हृदय को उषःकाल में ही पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. दोषशून्य किया जाने पर यह **वितरम्**=खूश्ब **वरीयः**=विशाल हृदय **उ**=निश्चय से **विप्रथते**=(प्रथ= विस्तारे) विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। ३. यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास आसानी से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए, स्वास्थ्य के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है। हृदय में होनवाली वासनाएँ व संकुचित भावनाएँ शरीर-स्वास्थ्य को नष्ट करने में प्रबल स्थान रखती हैं। वासनाएँ गई, विशालता आई तो यह शरीर स्वस्थ हो जाता है। मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार 'वसु' बनने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम वेद में प्रभु से उपदिष्ट मार्गों से हृदय को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल व वासनाशून्य बनाएँ। शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन सकेंगे।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दिव्य इन्द्रियद्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥३०॥

१. 'वसुओं' की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=(व्यञ्चनवत्यः गमनवत्यः) उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=(उरवो विशालाः—उ०) विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) विशिष्ट कार्यों का सेवन करनेवाली हों। २. **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवाली हों ३. **देवीः द्वारः**=ये सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का कारण बनें। **विश्वमिन्वाः**=(विश्वम् एति गच्छति यासु ताः) सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। ४. ये इन्द्रियाँ **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=(सुप्रगमनाः) प्रकृष्ट

गमनवाली हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय अपने मार्ग पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाली हो, जिससे हममें उत्तरोतर दिव्यता का विकास हो।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार प्रकृष्ट गमनवाले हों, विशाल हों, अपने को उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञानप्राप्तियों व कर्मों से सुभूषित करें, दिव्य बनें, हमारी वृद्धि का कारण बनें, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को ग्रहण करनेवाले हों। ये सदा उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों, जिससे हममें उत्तरोत्तर दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

स्मयमान दिन-रात

आ सुष्वयन्ती यजतेऽउपाकेऽउषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मेऽअधि श्रियꣳशुक्रपिशं दधाने॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आसुष्वयन्ती** =सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात्, मकारस्य नकारः) खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते हुए **उपाके**=(उप समीपम् अकतः, अक गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **निसदताम्**=नम्रता से स्थित हों, अर्थात् हम दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपसना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. **दिव्ये**=ये दिन-रात हमें प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों, अर्थात् हम प्रातः व सायं प्रभु-उपासन के साथ स्वाध्याय अवश्य करें। ३. **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों से अमिश्रित व अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। हमारे दुर्गुणों को ये दूर करें व सुगुणों को प्राप्त कराएँ। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'। इस प्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले बनें। ४. ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(शुक्र वीर्य, पिश् to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है उस **श्रियम्**=शोभा को **अधि दधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमें शुक्र, शुक्ल, श्वेत श्री की प्राप्ति होती है तथा इस वीर्यरक्षा के द्वारा ही 'कपिश श्री' स्वास्थ्य के कारण चेहरे पर तेजस्विता की सुनहली झलक प्राप्त होती है। इस प्रकार ये दिन-रात हमें भी सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। यज्ञव्यापृत प्रभु की उपासना में लगे हुए ये दिन-रात हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें भी सम्पन्न करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥३२॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव=(प्रभु) को प्राप्त करानेवाले होता हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं, इनके जाने पर शरीर की दुर्गति ही क्या, समाप्ति ही हो जाती है, अतः प्राण ही वरिष्ठ व श्रेष्ठ हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं, प्राणशक्ति की क्षीणता से वाणी भी क्षीण होने लगती है और अपान के ठीक कार्य न करने

से तो वाणी समाप्त ही हो जाती है। २. इस **मनुषः**=मननशील पुरुष के **यजधै**=(यष्टुं) प्रभु से मेल कराने के लिए **यज्ञम् मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। प्राणापान की शक्ति से ही सब यज्ञ चलते हैं। ३. ये प्राणापान साधना करनेवाले मनुष्य को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान का साधक ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण ज्ञान की रुचिवाला होता है। **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करनेवाले हैं। शरीर में प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर कार्यों में भी सौन्दर्य व कला प्रकट होती है। प्राणापान की दुर्बलता होने पर कार्य में उत्साह नहीं होता और परिणामतः वहाँ अनाड़ीपन व भद्दापन टपकता है। ४. ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनम् ज्योतिः**=उन्नति के साधनभूत अथवा सनातन (शाश्वत) ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से हृदय का वह नैर्मल्य प्राप्त होता है जिससे अन्तःस्थ प्रभु की ज्योति का हममें आभास होता है। यह ज्योति हमारी निरन्तर उन्नति का कारण बनती है, यह प्राचीन है, हमें आगे ले-चलनेवाली है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है, सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वपस के बर्हि में

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳस्योनꣳसरस्वती स्वपसः सदन्तु॥३३॥

१. **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरतः आदित्यः, तस्य इयं भारती) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ**=सब प्रकार से **एतु**=प्राप्त हो। २. **मनुष्वत्**=एक ज्ञानी पुरुष को जैसे चाहिए उस प्रकार **इह**=इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई, संज्ञानवाला करती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवनयज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। श्रद्धा न रहने पर 'जीवन' यज्ञ नहीं रहता, यह भोग का स्थान बन जाता है। 'Eat, drink and be merry'='खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ' यह उनके जीवन का सिद्धान्त बन जाता है। ३. भारती व इडा के साथ **सरस्वती**=यह वाणी देवता भी है और इस प्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=(सु अपस्) उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदम् स्योनम्**=इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**= आसीन हों, अर्थात् हम 'भारती, इडा व सरस्वती' इन तीनों देवियों को अपनाने का प्रयत्न करें। इन तीनों देवियों को अपनानेवाला व्यक्ति वही होता है जो 'स्वपस्' हो, उत्तम कर्मोंवाला हो। इस उत्तम कर्मोंवाले का हृदय वासनाशून्य होता है और वासनाशून्य हृदय में ही इन देवियों का स्थान है।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्वष्टा का उपासन

यऽइमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिꣳशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥३४॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और **जनित्री**=सब

भूतों को जन्म देनेवाला है, उनको **रूपै अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है **तम्**=उस **देवं त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**= प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील विद्वान्, ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर। २. वे प्रभु जैसे सूर्यादि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, वैसे तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन, प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बन, तू यजीयान हो, अतिशयेन यज्ञशील हो। विद्वान् व ज्ञानी बन। इस प्रकार बनने का प्रयत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा और तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की तरह रूपों से अलंकृत होगा।

भवार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है, हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वनस्पति-शमिता-देव-अग्नि

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथऽऋतुथा हवीꣳषि।
वनस्पतिः शमिता देवोऽअग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥३५॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं (आत्मना) **देवानाम् पाथे**=देवताओं के मार्ग में अर्थात्, देवयान मार्ग पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ, प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभुस्मरण करते हुए हव्य पदार्थों का भोजन कर। 'जैसा अन्न वैसा मन', इस उक्ति के अनुसार तेरा जीवन वैसा ही बनेगा जैसा तू भोजन करेगा। तू देवयान मार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर तभी तुझमें दिव्य गुणों की उत्पत्ति होगी। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की रश्मियों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विकास कर। **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ानेवाला हो। ३. जो 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' बनना चाहते हैं, वे **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही, पवित्र यज्ञिय भोजनों को ही **मधुना घृतेन**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**= खानेवाले हों, आनन्दपूर्वक इन्हीं वस्तुओं का सेवन करें। 'हव्य, मधु, घृत' ये सात्त्विक पदार्थ हमारे मनों को भी सात्त्विक बनाएँगे। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हमारे मन प्रसादगुणयुक्त व शान्त होंगें, हममें दिव्य गुणों का विकास होगा और हम आगे-ही-आगे बढ़ेंगे।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें। यज्ञिय, वनस्पति भोजन, मधु व घृत का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

गृहस्थ व यज्ञ

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतꣳहविरदन्तु देवाः॥३६॥

१. विद्यार्थी आचार्यकुल में प्रविष्ट होता है तो आचार्य उसे उपनीत करता हुआ गर्भ में धारण करता है। जब वह आचार्यगर्भ से उत्पन्न होता है तब **जातः**=उत्पन्न हुआ व

दीक्षान्तस्नान किया हुआ स्नातक विद्या व व्रतों में स्नान करके **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=गृहस्थ में प्रवेश करके पाँचों यज्ञों का करनेवाला बनता है। २. **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला होता है। आगे बढ़ते हुए **देवानाम्**=देवताओं का **पुरोगाः**=अग्रगामी **अभवत्**=होता है, अर्थात् देवो में भी प्रथम स्थान प्राप्त करता है। ३. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रदिशि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की वाणी के, अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करें, माता-पिता, आचार्य व अतिथि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इनको खिलाकर यज्ञशेष को खाना ही अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें तो यज्ञशील हों। वेदानुसार अग्निहोत्र करें। मात-पिता को खिलाकर खाएँ, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष खानेवाले ही देव व अमर बना करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उषाः जागरण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्याऽअपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥३७॥

१. गतमन्त्र का यज्ञशील पुरुष सदा उत्तम इच्छाओं से सम्पन्न होता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छान्दा' बनता है। उसकी कामना होती है—(क) अन्धकार को दूर करने के लिए वह प्रकाश को फैलाये, (ख) निर्धनता को दूर करने के लिए वह धन के उचित संविभागवाला हो अथवा (पेशस् रूप) आहार-विहार का ठीक ज्ञान देने से लोगों को स्वस्थ बनाकर उन्हें ठीक रूप देनेवाला हो। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अकेतवे**=अविद्यमान प्रज्ञानवाले, नासमझ के लिए **केतुम्**=प्रज्ञान को **कृण्वन्**=करता हुआ तथा (क) **अपेशसे मर्या**=(मर्याय) (न विद्यते पेशः सुवर्णं यस्य)=अविद्यमान धनवाले के लिए **पेशः**=सुवर्ण को करता हुआ (ख) अथवा (पेशः=रूपम्) अस्वास्थ्य के कारण नष्ट सौन्दर्यवाले व्यक्ति के लिए, स्वास्थ्य के द्वारा सुन्दर रूप को करता हुआ तू **उषद्भिः**=उषाःकालों के साथ **अजायथाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भव—विकास करता है, अर्थात् उषाःकाल में ही जाग उठता है और अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगकर अपनी शक्तियों का विकास करता है।

भावार्थ—हम अज्ञानी के लिए ज्ञान दें, अधन के लिए धन देनेवाले हों तथा अरूप को स्वास्थ्य के द्वारा रूप प्रदान करें। उषाःकाल में ही उद्बुद्ध होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगते हुए अपनी शक्तियों का विकास करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वर्म (कवच) ब्रह्मरूप कवच

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳस त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातःकाल जागकर अपने कर्त्तव्यों में लगनेवाला व्यक्ति अपना उचित रक्षण कर पाता है। शक्तिशाली बनकर जहाँ वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता, वहाँ मन में क्रोधादि भावनाओं से भी बचा रहता है, अतः इसका नाम 'भारद्वाज पायु' हो जाता है, अपने में शक्ति भरनेवाले की सन्तान, अपनी रक्षा करनेवाला। यह ज्ञानरूप कवच को

धारण करके (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्, शर्म वर्म ममान्तरम्) कामादि के आक्रमण से विद्ध (घायल) नहीं होता। वासनाओं के साथ संग्राम में यह ज्ञान व प्रसाद (सुख) का कवच इसे बचानेवला होता है। (क) मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जब **वर्मी**='ब्रह्म' कवच को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **समदाम्**=संग्रामों के (सह माद्यन्ति योद्धा यत्र) **उपस्थे**=गोद में, अर्थात् संग्राम में **याति**=प्राप्त होता है तब **जीमूतस्य इव**=मेघ की भाँति **प्रतीकम् भवित**=इसका मुख होता है। जिस प्रकार बादल विद्युत् व गर्जनाओं से असह्य होता है उसी प्रकार इस पायु का मुख भी ज्ञानदीप्ति व प्रभु नमोच्चारण से शत्रुओं के लिए असह्य हो जाता है। ३. जैसे योद्धा कवच के कारण अनविद्ध शरीरवाला होता है, उसी प्रकार **अनाविद्धया तन्वा**=काम, क्रोधादि के आक्रमणों से न घायल शरीर से **त्वम्**=तू **जय**=विजयी हो। **त्वा** =तुझे **वर्मणः**=ब्रह्मरूप कवच का **सः महिमा**=वह प्रसिद्ध महत्त्व **पिपर्त्तु**=कामादि के आक्रमण से बचानेवाला हो। ब्रह्मरूप कवच को धारण किये हुए तुझे कामदेव के अस्त्र विद्ध न कर सकें।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके मनुष्य काम के आक्रमणों से बचा रहे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

धनुष् (प्रणवरूप धनुष)

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥३९॥

१. **धन्वना**=धनुष से **गा**=गौवों को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **आजि**=युद्ध को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=धनुष से **तीव्राः**=उग्र व पटु बने हुए हम **समदः**=संग्रामों को **जयेम**= जीत जाएँ। **धनुः** =धनुष् **शत्रोः**=शत्रु की **कामम्**=इच्छा को **अपकृणोति**=दूर करता है, **धन्वना**= इस धनुष् से **सर्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट दिशाओं को **जयेम**=जीत जाएँ। २. उपनिषदों में 'प्रणवो धनुः' इन शब्दों में **प्रणव**=ओंकार को धनुष् कहा है। योग में प्रणव के जप व अर्थभावन पर बल दिया है। इसके उच्चारण व अर्थभावन से हम इन्द्रियों (गाः) को जीतते है। इसी के बल से हम वासना-संग्राम (आजि) में विजयी होते है। इसके उच्चारण से शक्तिशाली बने हुए हम (तीव्रम्) सब संग्रामों को अथवा मदयुक्त प्रबल शत्रुओं को (समदः) पराजित करते हैं। ३. यह धनुष् ही—प्रणव का ध्यानपूर्वक जप ही हमपर कामाग्नि का आक्रमण नहीं होने देता। हम इस प्रणवरूप धनुष् से सब दिशाओं में उन्नित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष् के महत्त्व को समझें और अर्थभावनपूर्वक 'ओम्' का जप करते हुए सच्चे धानुष्क (धनुर्धारी) बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्या (जिह्वा)

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳसखायं परि षस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳसमने पारयन्ती॥४०॥

१. जिस समय धनुष् पर तीर लगाकर ज्या को खींचते हैं तब यह ज्या कान के पास तक पहुँचती है, मानो वह कान में कुछ कहना चाहती है। **वक्ष्यन्ती इव**=वचनोत्सुका-सी बोलने के लिए उत्सुक-सी **इत्**=निश्चय से **कर्णम्**=धानुष्क के कर्णमूल के पास

आगनीगन्ति=खूब आती है। २. यह ज्या **प्रियं सखायम्**=अपने प्रिय मित्र बाण को **परिषस्वजाना**=आलिंगन किये हुए होती है। ३. **अधिधन्वन्**=धनुष् पर **विततता**=फैली हुई यह ज्या **योषा इव**=गुणों के मिश्रण व दोषों के अमिश्रण करनेवाली स्त्री के समान **शिङ्क्ते**=अव्यक्त शब्द करती है। ४. **इयम्**=यह **ज्या**=धनुष् की डोरी **समने**=संग्राम में **पारयन्ती**=विजय को प्राप्त करती है। ५. हमारी जिह्वा ही ज्या है, यह कान में कुछ कहने के लिए तो उत्सुक रहती ही है, 'शरो ह्यात्मा'=आत्मा 'बाण' है—और यह वाणी उसी का स्त्रीलिंगरूप धारण किये हुए आत्मा की पत्नी ही है। आत्मा इसका प्रिय सखा है। प्रणवरूप धनुष पर विस्तृत हुई-हुई यह जयरूप में अव्यक्त शब्द करती है और वासनासंग्राम में हमें विजयी बनाती है।

भावार्थ—धनुष् में ज्या का जो महत्त्व है वही जीवन में वाणी का महत्त्व है। इसी से आत्मारूप शर प्रेरित होता है। प्रभु की वाणी हम आत्माओं को प्रेरणा दे रही है। हम स्वयं भी वाणी द्वारा आत्मा को प्रेरणा (आत्मप्रेरणा) देकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आर्त्नी (श्रद्धा व विद्या)

तेऽआचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यताꣳसंविदानेऽआर्त्नीऽइमे विष्फुरन्तीऽअमित्रान् ॥४१॥

१. **ते आर्त्नी**=वे दोनों धनुष्कोटियाँ **समना योषा इव आचरन्ती**=समान पति में गये हुए मनवाली स्त्रियों की भाँति आचरण करती हुईं, **माता पुत्रम् इव**=जिस प्रकार माता पुत्र को, उसी प्रकार **उपस्थे**=गोद में **बिभृताम्**=शर को धारण करें। दोनों धनुष्कोटियाँ धानुष्क को इस प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे दो स्त्रियाँ समान पति को प्राप्त होती है। पत्नी शक्ति का प्रतीक है। यहाँ धानुष्क की शक्ति इन दोनों कोटियों में निहित है। अध्यात्म में ये दोनों कोटियाँ 'श्रद्धा और विद्या' है। आत्मा इनका पति है, आत्मा की शक्ति श्रद्धा और विद्या पर निर्भर करती है। इन दोनों कोटियों के मध्य में जैसे शर निहित होता है, उसी प्रकार यहाँ श्रद्धा और विद्या के मध्य में कर्म है। जो कर्म श्रद्धा व विद्या से मिलकर किया जाता है, वह कर्म वीर्यवत्तर होता है। २. **इमे**=ये दोनों **आर्त्नी**=धनुष्कोटियाँ **संविदाने**=परस्पर एकभाव को प्राप्त हुईं-हुईं, परस्पर सिली-सी हुईं **'मूर्धानमस्य संसीव्य हृदयं च यत्'**, **अमित्रान्**=अस्नेहवालों को, अर्थात् शत्रुओं को **विष्फुरन्ती** =(विशेषेण चालयन्त्यौ) विशेषरूप से डाँवाडोल करती हुई **शत्रून्**=शत्रुओं को **अपविध्यताम्**=विद्ध करके दूर भगा दें। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में श्रद्धा से विद्या का पोषण करें और विद्या से श्रद्धा को दृढ़मूल करें। इस प्रकार श्रद्धा और विद्या को परस्पर मिला दें। जब हम श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक प्रभु के नाम का उच्चारण व अपने अन्य कर्म करें तब काम, क्रोधादि शत्रु काँप उठें और हमारे हृदय से दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—प्रणवरूप धनुष् की श्रद्धा व विद्यारूप दोनों कोटियाँ परस्पर सम्बद्ध होंगी तो इस धनुष् से इस प्रकार कर्मरूप तीव्र शर चलेंगे कि वासनारूप सब शत्रुओं का संहार हो जाएगा।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इषुधिः (तूणीर)

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वीः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में तरकस का उल्लेख करते हैं। इस तरकस में तीर रखे जाते हैं और यह धानुष्क की पीठ पर बँधा होता है। इसमें तीर सुरक्षित होते हैं, सो कहते हैं कि **बह्वीनाम् पिता**=बहुत-से तीरों का यह पिता-रक्षक होता है। **बहुः**=बहुत-से इषुओं का यह समूह **अस्य**=इसका **पुत्रः**=पुत्र स्थानीय है। 'पुरून् बहून्ह त्रायते'=यह वाणसमूह शत्रुओं पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करता है। २. यह तूणीर **समना अवगत्य**=संग्राम में पहुँचकर **चिश्चा कृणोति**='चिश्चा' इस अव्यक्त शब्द को करता है-'' 'चि'=एक-एक शत्रु का चयन करके, एक-एक को चुनकर उसका उच्चाटन कर दो'', ऐसा कहता प्रतीत होता है। ३. यह **इषुधिः**=तूणीर **पृष्ठे निनद्धः**=पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ **प्रसूतः**=धानुष्क से कार्य में प्रेरित किया हुआ **सर्वाः**=सब **सङ्काः**=(सन्नतेः, संपूर्वात् किरतेर्वा) सम्बद्ध व विकीर्ण **पृतनाः**=सेनाओं को **जयति**=जीत लेता है। ४. हृदय तूणीर है, इसमें निहित प्रभु के नाम ही शर हैं-अध्यात्मभवनारूप इन तीरों से वासनाओं की सेनाएँ पराजित कर दी जाती हैं।

भावार्थ-तरकस का युद्ध में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वही स्थान शरीर में हृदय का है। यह शत्रुओं के संहारक आत्मसङ्कल्परूप शरों से भरपूर होना चाहिए।

ऋषिः-**भारद्वाजः**। देवता-**वीराः**। छन्दः-**जगती**। स्वरः-**निषादः**।

सारथिः व रश्मयः

रथे॒ तिष्ठ॑न्नयति वा॒जिनः॑ पु॒रो यत्र॑यत्र का॒मय॑ते सुषा॒र॒थिः।
अ॒भीशू॑नां महि॒मान॑ं पनायत॒ मन॑ः प॒श्चादनु॑ यच्छन्ति र॒श्मय॑ः॥४३॥

१. **रथे**=रथ पर **तिष्ठन्**=स्थिरता से ठहरा हुआ **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **यत्र-यत्र**=जहाँ-जहाँ **कामयते**=चाहता है, वहाँ-वहाँ **वाजिनः**=घोड़ों को **पुरः**=आगे **नयति**=ले-जाता है। यह शरीर भी रथ है। इस रथ पर आत्मा रथी है, वह बुद्धिरूप सारथिवाला है। जब यह सारथि ठीक होता है तब यह इन्द्रियरूप घोड़ों को इष्ट स्थान की ओर ले-जाता है और अपनी जीवन-यात्रा को आगे-और-आगे (पुरः) बढ़ाता चलता है, परन्तु सारथि के अकुशल होने पर ये घोड़े रथ को किसी गर्त में गिरा देते हैं और सब काम ही समाप्त हो जाता है, उन्नति व यात्रापूर्ति का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। २. मन्त्र कहता है कि जहाँ सारथि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहाँ **अभीशूनाम्**=रश्मियों की, लगामों की **महिमानम्**=महिमा की **पनायत**=स्तुति करो। ये **रश्मयः**=रश्मियाँ-लगामें **पश्चात्**=पीछे होती हुई **मनः**=अश्वरूपी चित्त को **अनुयच्छन्ति**=अनुकूलता से प्राप्त होकर वशवर्ती कर लेती हैं। लगाम घोड़ों को काबू करने में सहायक होती है। शरीर में मन ही लगाम है। मनीषा, अर्थात् बुद्धि ने इस मनरूप लगाम के द्वारा ही इन्द्रियों को काबू करना है।

भावार्थ-बुद्धिरूप सारथि उत्तम होगा तो वह इन्द्रियों से हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करेगा। इन इन्द्रियों को मनरूप लगाम द्वारा ही काबू किया जा सकता है। बुद्धिरूप सारथि का नाम ही मनीषा (मनसः ईष्टे) है, यह मन का शासन करती है।

ऋषिः-**भारद्वाजः**। देवता-**वीराः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**।

अश्व (इन्द्रियाँ)

ती॒व्रान् घोषा॑न् कृण्वते वृष॑पाणयो॒ऽश्वा॒ रथे॑भिः स॒ह वा॒जय॑न्तः।
अ॒व॒क्राम॑न्तः प्रप॑दै॒रमित्रा॑न् क्षिणन्ति शत्रू॑१॒॑ऽरन॑पव्ययन्तः॥४४॥

१. **वृषपाणयः**='वृष' शब्द यहाँ शक्तिशाली घोड़ों का प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे

घोड़े जिनके हाथों में है (वृषाः पाणौ येषाम्)। वे उत्तम अश्वोंवाले व्यक्ति **तीव्रान् घोषान्**=तीव्र जय शब्दों को **कृण्वते**=करते हैं। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से क्या हम जीवन-यात्रा में विजयी न होंगे? २. इन वृषपाणियों के **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व भी **रथेभिः सह**=शरीररूप रथों के साथ **वाजयन्तः**=जीवनयात्रा में आगे-और-आगे चलते हुए (गच्छन्तः) अथवा प्रभु का पूजन करते हुए (पूजयन्तः) विजय-घोष करते हैं। ३. **अमित्रान्**=अमित्रों को **प्रपदैः**=पादाग्रों से, खुरों से **अवक्रामन्तः**=पाँवों तले रौंदते हुए **अनपव्ययन्तः**=न नष्ट होते हुए, शक्ति को क्षीण न होने देते हुए **शत्रून्**=शत्रुओं को **क्षिणन्ति**=नष्ट कर देते हैं। यदि हमारे ये इन्द्रियाश्व वृषपाणियों के हाथों में होंगे तो ये वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे ले-चलेंगे। यहाँ मन्त्र में 'तीव्रान् घोषान्' शब्दों से उच्च स्वर में प्रभु नामोच्चारण का संकेत किया गया है। प्रभु 'उक्थ' हैं। ऊँचे से गायन के योग्य हैं। यह उच्च स्वर से प्रभुनामोच्चारण हमें विजयी बनाता है। यह मन्त्रोच्चारण जयशब्दोच्चारण हो जाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों। उनकी लगाम हमारे हाथों में हो तभी हम इस शरीर-रथ से यात्रा में आगे बढ़ पाएँगे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथमुपसदेम

रथवाहनꣳहविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मꣳसदेम विश्वाहा वयꣳसुमनस्यमानाः॥४५॥

१. **अस्य**=इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज पायु' का **हविः**=दानपूर्वक अदन, यज्ञशेष के रूप में भोजन का सेवन **रथवाहनम् नाम**=निश्चय से शरीररूप रथ के धारण के लिए ही करते हैं। २. इनका यह शरीररूप रथ ऐसा है **यत्र**=जिसमें **अस्य**=इस रथस्वामी का **आयुधम्**=सब अस्त्र-शस्त्र, (वस्तुतः इस जीवन-यात्रा में इन्द्रियाँ ही आयुध हैं अथवा प्राण आयुधरूप हैं—ये इन्दियाँ और प्राण) तथा **वर्म**=ज्ञानरूप कवच **निहितम्**=रखा है। वस्तुतः जिस समय मनुष्य भोजन का चुनाव बड़े ध्यान से करता है तब उसकी इन्द्रियाँ, प्राण और ज्ञान सभी उत्तम होते हैं। ३. **तत्र**=उस समय **वयम्**=हम **एवम्**=शरीररूप रथ पर **उपसदेम**=विनीततापूर्वक आसीन हों—हम उपासना की वृत्तिवाले बनकर रथारूढ़ हों, जिससे यह रथ **शग्मम्**=हमारे लिए सुखकर हो। ४. ऐसे रथ पर आरूढ़ हुए-हुए हम **विश्वाहा**=सदा **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्यवाले हों। हमारे मनों में प्रसन्नता हो, उसमें किसी प्रकार की मलिन भावनाएँ न हों।

भावार्थ—जैसे रथ के ठीक होने पर तथा सब उपकरणों व रक्षासाधनों से युक्त होने पर यात्री सुख व शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारा यह शरीररूप रथ भी हो। इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन व बुद्धि आदि सभी उपकरण ठीक हों, जिससे सौमनस्यवाले होकर हम यात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

रथ-गोप—रथ-रक्षक सैनिक (Commanders)

स्वादुष्टꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेनाऽइषुबलाऽअमृधाः सतोवीराऽउरवो व्रातसाहाः॥४६॥

१. सेना के नायकों का 'रथगोप' के नाम से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **स्वादुषंसदः**=(स्वादु सुखं यथा तथा संसीदन्ति) इनका उठना-बैठना भी माधुर्य को लिये हुए होता है, (ख) **पितरः**=ये रक्षक होते हैं, अपने सैनिकों को पुत्रवत् समझते हैं, (ग) **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले होते है। (घ) **कृच्छ्रेश्रितः**=(कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते) कष्ट आने पर इनकी शरण में आया जाता है, (ङ) **शक्तीवन्तः**=सामर्थ्य व आयुधविशेषों से ये सम्पन्न होते है, (च) **गभीराः**=गम्भीरबल व गम्भीर प्रज्ञावाले हैं, (छ) **चित्रसेनाः**=नाना प्रकार की सेनावाले हैं, (च) **इषुबलाः**=बाणादि अस्त्रों से बलवाले हैं, (झ) **अमृध्राः**=(कठिनाङ्गा अमृदवः) कठिन अङ्गोंवाले हैं अथवा उग्र शासनवाले हैं, (ञ) **सतोवीराः**=सत्ता व बल से युक्त सेना को विविध दिशाओं में ईरण व प्रेरण करनेवाले हैं। अथवा सज्जन व वीर हैं। **उरवः**=विशाल जघन व उरु प्रदेशवाले हैं। **व्रातसाहाः**=शत्रुओं के समूहों को अभिभूत करनेवाले हैं। २. वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति 'रथगोप' अथवा सेनानायक बनने की योग्यता रखते हैं। वे सेना के पितर कहलाते हैं। वस्तुतः राष्ट्ररक्षक होने से इनका 'पितर' नाम समुचित ही है।

भावार्थ—मन्त्रवर्णित योग्यताओं को धारण करके हम सच्चे 'रथगोप' सेनानायक बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**धनुर्वेदाध्यापकाः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ब्राह्मण

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंसऽईशत॥४७॥

१. हमारे राष्ट्र के 'सेनानायक कैसे हों', यह विषय गतमन्त्र का था। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भिक विषय यह है कि 'हमारे राष्ट्र के आचार्य कैसे हों?' आचार्य (क) **ब्राह्मणासः**=(ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म के जाननेवाले अर्थात् पराविद्या में भी निपुण हों। **'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**, पराविद्या वही है जिससे उस अक्षर, अविनाशी, परमात्मा का ज्ञान होता है। 'पराविद्या में निपुण' कह देने से अपराविद्या का पाण्डित्य तो आ ही जाता है, क्योंकि सामान्यक्रम से अपरा के बाद ही परा का अध्ययन होता है। (ख) ये परा-पराविद्या में निपुण ब्राह्मण **पितरः**=विद्यार्थियों का पालन व रक्षण करनेवाले होते हैं। (ग) **सोम्यासः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले होते हुए ये बड़े सौम्य स्वभाव के, शान्तवृत्ति के होते हैं। २. राष्ट्र में ब्राह्मणों के ठीक होने पर आधिदैविक आपत्तियों से राष्ट्र बचा रहता है, अतः कहते हैं कि 'ब्राह्मणों के पितर व सोम्य' होने पर **नः**=हमारे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अनेहसा**=उपद्रव व हिंसाशून्य होते हुए **शिवे**=कल्याणकर हों। पार्थिव व अन्तरिक्ष कोई भी विपत्ति हमपर न आये। ३. द्यावापृथिवी के साथ **पूषा**=यह सबका पोषण करनेवाला सूर्य **नः**=हमें **दुरितात्**=पाप से **परिपातु**=सुरक्षित करे। ४. हे **ऋतावृधः**=सत्य व यज्ञ का रक्षण करनेवाले देवो! आप **रक्ष**=हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः जब हमारे अन्दर सत्य व यज्ञ का वर्धन होगा तब हमारी रक्षा तो स्वतः हो जाएगी। ५. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकि**=मत **ईशत**=शासन करनेवाला हो जाए, अर्थात् हम किन्हीं भी दुष्टों के वश में न हो जाएँ। उनकी बातों में आकर धर्म के मार्ग से विचलित न हों जाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र के ब्राह्मण 'पितर व सोम्य' हों तो द्युलोक व पृथिवीलोक हमारा कल्याण करनेवाले होंगे। सूर्य भी हमें अशुभावस्था से बचाएगा। सब देव हमारी रक्षा करें। हम दुर्जनों की बातों के प्रभाव में न आ जाएँ।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

बाण

सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥४८॥

१. धानुष्क से छोड़े जानेवाला बाण **सुपर्णं वस्ते**=पक्षी के पिच्छ को धारण करता है। बाण के अग्रभाग में उसकी गति को तीव्र करने के लिए कंक आदि पक्षियों का पंख लगाया जाता है। २. **अस्या दन्तः**=इस इषु का फलका **मृगः**=लक्ष्य का मार्गण (अन्वेषण) करनेवाला होता है। ३. **गोभिः**=गोविकार श्लेष्मस्नायुओं (ताँत) से **सन्नद्धा**=अच्छी प्रकार कसकर बँधा हुआ **प्रसूता**=धानुष्क से प्रेरित किया गया यह इषु **पतति**=शत्रुसैन्य की ओर जाता है। ४. इसके शत्रुसैन्य पर पड़ने पर रणांगण का दृश्य ऐसा हो जाता है कि **यत्र**=जिसमें **नरः**=मनुष्य **संद्रवन्ति च**=मिलकर भाग खड़े होते हैं **च**=और **विद्रवन्ति**=विरुद्ध दिशाओं में तितर-बितर हो जाते हैं। ५. इस प्रकार शत्रुसैन्य को भगाकर ये **इषवः**=बाण **तत्र**=उस रणाङ्गण में **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए शर्म **यंसन्**=सुख व शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा के लिए आयुध-सामग्री ठीक से तैयार होनी चाहिए। यह शत्रुसैन्य को पराजित करके राष्ट्र में सुख व शान्ति को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋजुगमन (सरल व्यवहार)

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमोऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥४९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शत्रुओं के भय से सुरक्षित राष्ट्र में हम कैसे बनें' इस बात का वर्णन करते हुए कहते है कि हे **ऋजीते**=(ऋजुः इति सरल गमन) सरल गति! तू **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब ओर से, शरीर में रोगादि से और मन में चिन्ताओं व ईर्ष्या-द्वेषादि से छुड़ा। सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाएँ सरल व्यवहार को अपनाकर अपने को रोगों व दोषों से मुक्त करें। २. **नः तनूः**=हमारे शरीर रोग-दोष से मुक्त होकर **अश्मा भवतु**=पत्थर के समान सुदृढ़ हों। छोटे-मोटे ऋतु-विकार उससे टकराकर प्रभावशून्य हो जाएँ। ३. **सोमः**=शान्त=विनीत स्वभाववाला आचार्य **नः**=हमें **अधिब्रवीतु**=अधिक्येन उपदेश दे। इनके उपदेश से ही हमारे जीवन में सरलता स्थिर रहेगी और हम कुटिलता से बचे रहेंगे। ४. **अदितिः**= अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य अथवा अदीना देवमाता=दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली अदीनता की भावना **शर्म**=शान्ति व सुख **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—हमारा व्यवहार सरल, कपटशून्य हो। शरीर पाषाणवत् दृढ़ हो। सौम्य आचार्यों से हमें ज्ञान प्राप्त हो। अदीनता व दिव्यता हमें सुखी व शान्त करे।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अश्वाजनी

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२॥ऽउप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥५०॥

१. जहाँ रथ में घोड़ों का महत्त्व है, वहाँ घोड़ों को चलानेवाले रथवाहक का महत्त्व

भी कम नहीं है। समझदार रथवाहक सामान्य घोड़ों को भी बड़ी अच्छी गतिवाला कर लेता है। वह चाबुक का प्रयोग बड़ी समझदारी से करता है। नासमझ रथवाहक मार-मार कर अच्छे घोड़े को भी बिगाड़ देते हैं, अतः कहते हैं कि **प्रचेतसः** =प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार रथवाहक **एषाम्**=इन घोड़ों के **सानु**=सानुतुल्य मांसोपचित (उठे हुए) अङ्गों को **आजङ्घन्ति**=चोट करते हैं, आहत करते हैं और **जघनान्**=कटिभागों को **उपजिघ्नते**=समीपता से ताड़ित करते हैं, दूर से किया हुआ प्रहार क्रोध को व्यक्त करता है और घोड़े को एक धक्का देता है, जिसकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। पास से किया हुआ आघात प्रेमपूर्वक दिये गये संकेत का सूचक है, उससे घोड़ा यथेष्ट गति के लिए उत्साहित होता है। ३. हे **अश्वाजनि**=चाबुक (अश्वाः अज्यन्ते यया)! तू समझदार प्रचेतस रथवाहक से प्रेरित हुआ-हुआ **अश्वान्**=घोड़ों को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रकृष्ट प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—घोड़ों के संचालक—रथवाहक बड़े समझदार होने चाहिएँ। वे चाबुक का समझदारी से प्रयोग करते हुए घोड़ों को संग्राम में सञ्चालित करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**महावीरः सेनापतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुमान् पुमांसं पातु

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥५१॥

१. 'हस्तघ्न' की व्युत्पत्ति है 'हस्ते स्थितो हन्ति' अथवा 'हस्तं हन्ति प्राप्नोति'—हाथ में स्थित होता हुआ ज्या के अघात को रोकता है अथवा ज्या के अघात से बचाव के लिए हाथ को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह **हस्तघ्नः**=प्रकोष्ठ त्राण (भुजरक्षक) **ज्यायाः**=धनुष की डोरी के **हेतिम्**=आघात को **परिबाधमानः**=रोकता हुआ **बाहुम्**=बाहु को **भोगैः**=अपने विस्तार से (आभोग से) **पर्येति**=इस प्रकार परिवेष्टित कर लेता है **इव**=जैसे **अहिः**=साँप **भोगैः**=अपने शरीरावयवों से। २. इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न हो, हाथ में लिये हुए शस्त्रों से शत्रुओं का हनन करनेवाला हो। यह राजा **विश्वा वयुनानि**=सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानता हुआ, अर्थात् अपने कर्त्तव्यों व ज्ञेय विषयों को समझता हुआ **पुमान्**=वीर होता हुआ अथवा (पू) पवित्र जीवनवाला होता हुआ **पुमांसम्**=अपने राष्ट्र के पवित्राचरण लोगों को **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—'हस्तघ्न' ज्या के आघात से बाहु की रक्षा करता है। इसी प्रकार राजा भी हस्तघ्न बनता है और अपने कर्त्तव्यों को समझता हुआ प्रजा का रक्षण करता है।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

रथ

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूयाऽअस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धोऽअसि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥५२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में रथ को 'वनस्पते' शब्द से सम्बोधन किया गया है। रथ बहुत कुछ वनस्पति-विकार व काष्ठमय होता ही है। यह हमारा शरीररूप रथ भी वनस्पति का विकार ही होना चाहिए, यह मांस से परिपुष्ट न होकर वनस्पति से ही पोषण को प्राप्त करे। हे **वनस्पते**=वनस्पतिविकार रथ! तू **हि**=निश्चय से **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गवाला **भूयाः**=हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा साथी हो। इस जीवन-यात्रा में सचमुच हमारी मदद देनेवाला हो।

प्रतरणः=सब विघ्नों को तैर जानेवाला हो। **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=हे युद्धवाले रथ! तू गौ के श्लेष्मचर्मों से सम्यक् बँधा हुआ है, इधर हमारा यह शरीररूप रथ भी गोविकार दूध आदि पदार्थों से दृढ़ गठे हुए अङ्गोंवाला है। **वीडयस्व**=तू दृढ़ता के कार्यों को करनेवाला हो, तेरे कार्य वीरतापूर्ण हों। ३. **ते अस्थाता**=तुझपर आसीन होनेवाला **जेत्वानि**=विजेतव्य देशों व द्रव्यों को **जयतु**=जीते।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ 'वनस्पतिविकार' ही हो, अर्थात् हम वानस्पतिक भोजन ही करें। गोदुग्ध से हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुगठित हों। इस शरीररूप रथ पर आसीन होकर हम विजेतव्य वस्तुओं का विजय करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ओजोभरण हविर्यजन

दिवः पृथिव्याः पर्योजऽउद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्य्याभृतꣳसहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳहविषा रथं यज॥५३॥

१. गतमन्त्र के शरीररूप रथ में **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीरूप शरीर का **ओजः**=बल **परि**=सब प्रकार से **उद्भृतम्**=प्रकर्षपूर्वक पोषित किया गया है, अर्थात् यह ध्यान किया गया है कि मस्तिष्क में जितने ज्ञान का पोषण हो सकता है, वह किया जाए और शरीर को जितना भी सबल बनाया जा सकता है बनाया जाए। २. इसी उद्देश्य से इसमें **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के द्वारा **सहः**=सहनशक्ति बढ़ानेवाला बल **पर्याभृतम्**=सब ओर से अच्छी प्रकार लाया गया है, अर्थात् वनस्पतियों के सेवन से इसमें उस बल की वृद्धि हुई है जिसके कारण इसमें सहनशक्ति है, यह शीघ्रता से क्रोध में नहीं आ जाता। ३. **अपाम्**=(आपः रेतः) रेतस् कणों के—वीर्य-बिन्दुओं के **ओज्मानम्**=बल का पुंज यह **रथम्**=शरीररूप रथ **गोभिः**=गोदुग्धों से **परि आवृतम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृत हुआ है, अर्थात् जिसके अङ्गों का निर्माण दूध से हुआ है, दूध को पीकर जिसके अङ्ग सुन्दर बने हैं अथवा जो रथ **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से आवेष्टित है। यह शरीर **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वज्रम्**=वज्रतुल्य दृढ़ है (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) इस शरीर रथ को **हविषा**=हवि से **यज**=सङ्गत कर, अर्थात् यह सदा हवि का सेवन करनेवाला हो, दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। इस हवि से ही तो हम प्रभु की भी अर्चना कर पाते हैं, अतः हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। इस यज्ञशेष के सेवन से यह रथ अमृत बनेगा, रोगों का शिकार न होगा।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में हम मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करें, शरीर को बल-सम्पन्न बनाएँ। वनस्पतियों के सेवन से सहनशील बनें। रेतस् कणों की रक्षा से ओजस्वी बनें। ज्ञानकिरणों से प्रकाशित इस रथ को जितेन्द्रियता द्वारा वज्रतुल्य बनाएँ और सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मित्रस्य गर्भः

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥५४॥

१. गतमन्त्र का यह शरीररूप रथ **इन्द्रस्य वज्रः**=इन्द्र का वज्र है, अर्थात् जितेन्द्रिय

पुरुष का यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ होता है। २. यह शरीर **मरुताम्**=प्राणों की **अनीकम्**=तेजस्विता व दीप्तिवाला (splendour, brilliance) है, अर्थात् जहाँ जितेन्द्रियता से यह शरीर वज्रतुल्य दृढ़ता को प्राप्त होता है, वहाँ प्राणसाधना से यह तेज व दीप्तिवाला होता है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष का यह शरीर प्राणसाधना करने पर **मित्रस्य गर्भः**=स्नेह की देवता का गर्भ होता है, अर्थात् स्नेह से परिपूर्ण होता है। ४. **वरुणस्य नाभिः**=द्वेष के निवारण की देवता का केन्द्र व बन्धन-(नह बन्धने)-वाला होता है। इस इन्द्र के शरीर में द्वेष के लिए स्थान नहीं रहता। यहाँ प्रेम-ही-प्रेम होता है। ५. हे **देवरथ**=इन्द्र, मरुत्, मित्र व वरुण आदि देवों के निवासस्थान बने हुए रथ! **सः**=वह तू **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम् जुषाणः**=यज्ञशेष के रूप में दिये गये भोजन को सेवन करता हुआ **प्रति**=प्रतिदिन **हव्या**=हवियों को ही **गृभाय**=ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। वस्तुतः देवता हविर्भुक् हैं, हवि के सेवन से ही हममें देवों की व दिव्य गुणों की वृद्धि होगी।

भावार्थ—हम हवि के सेवन से, यज्ञशेष के भोजन से, अपने में शरीर की दृढ़ता, प्राणों की तेजस्विता, स्नेहभाव व द्वेष-निवारण को स्थिर करें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दुन्दुभि

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ऽअप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥५५॥

१. हे **दुन्दुभे**=दुन्दुशब्द से शत्रुओं को भयभीत करनेवाली दुन्दुभे! तू **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उपश्वासय**=गुञ्जित कर दे (उपशब्दय—उ०)। २. **पुरुत्रा**=बहुत-से स्थानों पर अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित हुआ-हुआ यह **जगत्**=सारा लोक **ते मनुताम्**=तुझे जाने, तेरा विचार करे। 'इतना आयत, दीर्घ व भयंकर शब्द कहाँ से हुआ' ऐसा सब लोग सोचने लगें। ३. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले राजा के **सजूः**=साथ तथा **देवैः**=युद्धक्रीड़ा के सञ्चालक अन्य सेनापतियों के साथ **शत्रून्**=शत्रुओं को **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **अपसेध**=भागा दे, रोक दे। तेरे शब्द को सुनकर शत्रु आगे बढ़ने का उत्साह ही न कर सके। तेरा शब्द उनके हृदयों को दहला दे।

भावार्थ—जब हम धर्म्य संग्राम में अवतीर्ण होते हैं, तब हमारा युद्ध के लिए किया गया आह्वान का शब्द शत्रु को भयभीत करनेवाला हो। हमारी दुन्दुभि के शब्द को सुनकर शत्रु भाग खड़े हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

परायों को रुलाना-अपने को सबल बनाना

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ऽआधा॒ निष्ट॑निहि दुरि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना॒ऽइ॒तऽइन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व॥५६॥

१. हे दुन्दुभे! तू **बलम्**=शत्रुसैन्य को **आक्रन्दय**=रुला दे। 'मेरा भाई मारा गया, मेरे पिता चले गये' इस प्रकार रोती हुई शत्रुसेना भाग खड़ी हो। २. तू **नः**=हममें **ओजः आधाः**=ओजस्विता का आधान कर। तेरा नाम ही 'आनक' है, आनयति सोत्साहान् करोति=यह शब्द वीरों को आनन्दित करता है, वे अधिक उत्साहयुक्त होकर युद्ध के लिए

आगे बढ़ते हैं। ३. **दुरिता**=दुरितों को, ग़लत चालों को, भाग जाने आदि की अपमानजनक भावनाओं को **बाधमानः**=रोकती हुई तू **निष्टनिहि**=निश्चत विजय के लिए शब्द कर। ४. हे दुन्दुभे! तू **इतः**=यहाँ रणांगण से **दुच्छुनाः**=दुष्ट कुत्ते के समान हमारे शत्रुओं को **अप प्रोथ**=सुदूर नष्ट कर दे। 'दुच्छुना' शब्द का अर्थ 'दुष्ट सुखों में फँसे हुए लोगों को' ऐसा होगा। इन लोगों को यह युद्ध का डिण्डिमशब्द दूर भगा दे। ५. हे **दुन्दुभे**! तू तो **इन्द्रस्य**=इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा व सेनापति की **मुष्टिरसि**=मुष्टि है। जैसे मुष्टि से प्रहार करते हैं, इसी प्रकार दुन्दुभि का शब्द भी शत्रु पर प्रबल प्रहार करता है, अतः, हे दुन्दुभे! **वीडयस्व**=तू हमारे सैनिकों को दृढ़ बनानेवाली हो अथवा वीरतायुक्त कर्म कर।

भावार्थ—दुन्दुभि का शब्द जहाँ शत्रु को भयभीत करता है, वहाँ अपने सैनिकों को उत्साहयुक्त करता है। इसके शब्द से शत्रु-सैन्य कुत्तों की भाँति भाग खड़ा हो।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**वादयितारो वीराः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

विजय

आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥५७॥

१. **केतुमत्**=विजय-पताकावाली अथवा (केतु=प्रज्ञा) विजय की प्रकाशक, विजय की सूचना देनेवाली **दुन्दुभिः**=भेरी **वावदीति**=अतिशयेन बजे। २. इस दुन्दुभि के द्वारा **अमूः**=इन शत्रुसेनाओं को तू **आ अज**=चारों ओर से विक्षिप्त करनेवाला हो। शत्रुसेनाएँ, भय से भाग खड़ी हों। **इमाः** =इन शत्रुसेनाओं को **प्रत्यावर्त्तय**=तू वापस लौटा दे। अथवा इन विजय करनेवाली अपनी सेनाओं को अब वापस लौटा ला। ३. **नः**=हमारे **अश्वपर्णाः नरः**=घोड़े के समान वेगवाले अथवा घोड़ों से इधर-उधर जानेवाले सेनानायक **संचरन्ति**=युद्धभूमि में सम्यक्तया, अव्याकुलता से विचरण करते हैं। ४. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले सेनापते! तू इस प्रकार उत्तमता से सेना का सञ्चालन कर कि **अस्माकम्**=हमारे **रथिनः**=रथी लोग **जयन्तु**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी रणभेरी विजयसूचक होकर बज उठे, शत्रुसेनाएँ भाग खड़ी हों, हमारी सेनाएँ व घुड़सवार सैनिक अव्याकुलता से रणांगाण में गति करें और हमारे रथी विजयी बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

पशु व देवता

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माषऽऐन्द्राग्नः संहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्णऽएकशितिपात्पेत्वः॥५८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विजयी राष्ट्र में राष्ट्र के भिन्न-भिन्न विभाग भिन्न-भिन्न पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ, इस बात का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कृष्णाग्रीवः**=काले गलेवाला पशु **आग्नेयः**=अग्नि देवतावाला, अर्थात् अग्नि के उत्तम गुणों से युक्त है, अतः अग्निनामक राष्ट्र का अग्रणी पुरुष कृष्णग्रीव पशु को अपना सूचक चिह्न बनाये। २. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुणोंवाली है। सरस्वती देवता का सूचक चिह्न 'मेषी' को बनाया जाए। आजकल भेड़ मूर्खता का प्रतीक समझी जाती है, परन्तु इस वेदवाक्य में वह

ज्ञान का प्रतीक होने योग्य समझी गई है। ३. **बभ्रुः**=पिङ्गल वर्णवाला पशु (धुमेला पशु–द०) **सौम्यः**=चन्द्रमा के गुणोंवाला है, सोम देवतावाला है। ४. **श्यामः**=श्याम रंग से युक्त पशु **पौष्णः**=पुष्टि आदि गुणोंवाला है, पूषा देवता से सम्बद्ध है, पूषा के गुणधर्मों से युक्त है। गौवों में काली गौ सम्पन्न क्षीरतमा मानी जाती है। ५. **शितिपृष्ठः**=श्याम पृष्ठवाला पशु **बार्हस्पत्यः**=बृहस्पति देवतावाला है, बृहस्पति के गुणधर्मों से युक्त है। ६. **शिल्पः**=विचित्र वर्णवाला पशु **वैश्वदेवः**=विश्वदेवे देवतावाला है, सब विद्वानों के गुणोंवाला है। इसके अनेक रंग विद्वान् की अनेक विद्याओं को संकेतित करते हैं। विद्वान् को भी विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला 'कल्माषग्रीव' होना ही चाहिए versatile। ७. **अरुणः**=लाल वर्णवाला **ऐन्द्रः**=इन्द्र देवतावाला है, सूर्य के गुणोंवाला है। ८. **कल्माषः**=खाखी वर्णयुक्त पशु **मारुतः**=वायुदेवता–सम्बन्धी है, अध्यात्म में इसका सम्बन्ध प्राणों से है। यह प्राण शरीर में अनेक चित्र (अद्भुत) कार्य करते हैं। ९. **संहितः**=दृढ़ अङ्गोंवाला पशु **ऐन्द्राग्नः**=इन्द्र व अग्नि देवतावाला है। इन्द्र व अग्नि का प्रतीक है, राष्ट्र में इन्द्र=सेनापति च अग्नि=सभापति दोनों को ही बड़े दृढ़ अङ्गोंवाला होना चाहिए। १०. **अधोरामः**=निचले प्रदेश में श्वेत वर्णवाला पशु **सावित्रः**=सवितृ देवतावाला है। जैसे सूर्य यहाँ अधः प्रदेश में भूमण्डल पर प्रकाश फैला देता है, उसी प्रकार राष्ट्र में सविता नामक शिक्षा–सचिव ने राष्ट्र में शिक्षा के विस्तार का ध्यान करना है। ११. **एकशितिपत्**=एक पाँव जिसका सफ़ेद है और **पेत्वः**=बड़ा वेगवान्, पतनशील पशु है, वह **वारुणः**=वरुणदेवता से सम्बद्ध है। वरुण के पाश **'छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**, अनृतवादी को जहाँ बाँधते हैं वहाँ सत्यवादी को मुक्त करते हैं। एवं, एक पाँव काला है तो दूसरा सफ़ेद। एक सफेद पाँववाला व दूसरा कृष्ण पाँववाला पशु यही संकेत कर रहा है।

भावार्थ–राष्ट्र में समुचित प्रेरणा (व्यवस्था) के लिए सब अधिकारी अपने देवताओं के गुणधर्मोंवाले पशुओं को अपना सूचक चिह्न बनाएँ।

ऋषिः–**भारद्वाजः**। देवता–**अग्न्यादयः**। छन्दः–**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः–**पञ्चमः**।

देवगुणधर्मयुक्त पशु

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माषऽआग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः॥५९॥

१. **रोहिताञ्जिः**=(रोहितोऽञ्जिस्तिलको यस्य) लाल तिलकवाला **अनड्वान्**=वृषभ **अनीकवते**=सेनावाले, अर्थात् सेना के सञ्चालन करनेवाले **अग्नये**=अग्रेणी सेनापति के लिए है, अर्थात् रोहिताञ्जि अनड्वान् सेनापति का सूचक चिह्न है। २.**अधोरामौ**=निचले भाग में श्वेत दो पशु **सावित्रौ** =सविता के गुणधर्मवाले हैं, अर्थात् श्वेत अधोभागवाले दो पशु (श्वेत=शुक्र=शुक्ल) **सावित्रौ**=पति–पत्नी के प्रतीक हैं, जो अधोभाग में वर्त्तमान इन्द्रियों से रमण करते हुए सन्तान को जन्म देते हैं। ३. **रजतनाभी**=रजत के समान नाभिवाले दो पशु **पौष्णौ**=पूषा देवता के गुणधर्मोंवाले हैं। प्रजाओं का पालन–पोषण करनेवाले धनी स्त्री–पुरुषों के ये पशु प्रतीक हैं, ये धनी स्त्री–पुरुष भी रजत व धन से सभी को अपने साथ बाँधे रहते हैं (नह बन्धने)। ४. **पिशङ्गौ**=पिङ्गल वर्णवाले **तूपरौ**=निःशृंग दो पशु **वैश्वदेवौ**=विश्वदेव देवतावाले हैं। सब देवता तेजस्विता के कारण सुवर्ण के समान पीत वर्णवाले होते हैं और हिंसा न करने से मानो निःशृंग हैं या गर्व न करने से इनके सींग

नहीं निकले हुए। ५. **कल्माषः**=खाखी वर्णवाला पशु **मारुतः**=मरुतों के गुण धर्मवाला है। मरुत=प्राण हैं, ये शरीर में विविध कार्यों को करते हुए कल्माष व चित्र-विचित्र वर्णवाले हैं। योग में प्राणों के विविध रंग माने गये हैं। ६. **कृष्णाः अजः**=कृष्णवर्ण का अज **आग्नेयः**=अग्नि के गुणधर्मवाला है। 'अग्नि' गर्म है इस कृष्ण अज से प्राप्त पशम भी बड़ी गरम होती है। अथवा अग्नि सेनापति है वह कृष्ण वर्णवाले बारूद से शस्त्रों के प्रक्षेपण (अज=क्षेपण) द्वारा शत्रुओं को दूर भगाता है, अतः उसका प्रतीक 'कृष्ण अज' रक्खा गया है। ७. **मेषी**=भेड़ **सारस्वती**=सरस्वती के गुण-धर्मवाली है। सरस्वती के उपासक भेड़ की भाँति ही नतमस्तक=विनीत रहते हैं और मस्तक व ज्ञान के द्वारा ही टक्कर लेते हैं। ८. **पेत्वः**=वेगवान् पशु **वारुणः**=वरुण देवतावाला है। वेगवान् पशु की भाँति वरुण भी अपने शत्रु-बाधनादि कार्यों में वेगवाला होता है।

भावार्थ—पशुओं के गुणधर्मों को समझकर हम अपने प्रतीकभूत पशु के चिह्न से प्रेरणा लेनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**[क], **प्रकृतिः**[ख]। स्वरः—**धैवतः**।

बृहस्पति-शाक्वर

[क]अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपालऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविꣳशाभ्यां [ख]वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्रऽऔष्णिहाय त्रयस्त्रिꣳशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्याऽअष्टाकपालः॥६०॥

१. याज्ञिक परिभाषा में आठ कपालों (पात्रों) में संस्कृत हवि को 'अष्टाकपाल' कहते हैं। यहाँ याज्ञिक परिभाषा का ही प्रयोग करते हुए कहते हैं कि **अग्नये**=आगे बढ़ने के स्वभाववाले, **गायत्राय**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा करनेवाले, **त्रिवृते**=(त्रिषु वर्तते) धर्मार्थकाम तीनों में समानुपात से वर्तनेवाले और अतएव **राथन्तराय**=इस शरीररूप रथ से तैर जानेवाले के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत की गई हवि होती है। ये आठ कपाल गीता के **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिदेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'** इस श्लोक में स्पष्ट हैं। पञ्चमहाभूतों से यह स्थूलशरीर बना है और फिर मन, बुद्धि, अहंकार से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में संस्कृत हवि का अभिप्राय यह है कि इनकी शक्तियों का ठीक से परिपाक किया जाए। इन सबके सशक्त होने पर ही मनुष्य संसार-समुद्र को इस शरीररूप रथ से पार कर जाता है। २. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **त्रैष्टुभाय**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोकनेवाले, **पञ्चदशाय**=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाले, **बार्हताय**=(बृहि वृद्धौ) निरन्तर वृद्धिशील व्यक्ति के लिए **एकादशकपालः**=ग्यारह कपालों में संस्कृत की गई हवि चाहिए। 'पुरमेकादशद्वारम्' में ग्यारह इन्द्रियद्वारों का उल्लेख है। इन ग्यारह इन्द्रियद्वारों की शक्ति का विकास करना ही एकादशकपालों में हवि का परिपाक है। ३. **विश्वेभ्यो देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले, **जागतेभ्यः**=जगती के हित में प्रवृत्त, **सप्तदशेभ्यः**=पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय व मन और बुद्धि इन १७

को ठीक रखनेवाले **वैरूपेभ्यः**=विशिष्ट रूपवालों के लिए सबमें असामान्य रूप से दिखनेवालों के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि होनी चाहिए। दस इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि की शक्ति का विकास ही बारह कपालों में हवि का परिपाक है। ४. **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह व द्वेष-निवारण को धारण करनेवाले, **अनुष्टुभाभ्याम्**=प्रत्येक कार्य के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले (अनु+स्टुभम्) **एकविंशाभ्याम्**='ये त्रिषप्त' मन्त्र में वर्णित शरीर की २१ शक्तियों का धारण करनेवाले और अतएव **वैराजाभ्याम्**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले अथवा नियमित (regulated) जीवनवालों के लिए **पयस्या**=(पायस शृतः) दूध में परिपक्व चरु होना चाहिए, अर्थात् इन्हें यथासम्भव दूध व दूध में संस्कृत वस्तुओं पर ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ५. **बृहस्पतये**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बननेवाले, **पाङ्क्ताय**=पंक्तिछन्द से स्तुत, अर्थात् पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को सुन्दर बनाने की प्रबल इच्छावाले, **त्रिणवाय**=धर्मार्थकाम तीनों में गतिवाले (नव् गतौ) अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों जिसके स्तुत्य हैं उस त्रिणव, अतएव **शाक्वराय**=शक्तिशाली के लिए **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए, अर्थात् यह उन्हीं हविर्द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करे जिनका यज्ञ के लिए परिपचन होता है। एवं, यज्ञिय पदार्थों को सेवन करता हुआ ही यह शक्तिशाली बनता है। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह बृहस्पति है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'शाक्वर'। ६. **सवित्रे**=निर्माण के कार्य करनेवाले **औष्णिहाय**=उत्कृष्ट स्नेहवाले, **त्रयस्त्रिंशाय**=तेतीस देवों का निवास स्थान बननेवाले, **रैवताय**=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाले के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत होनेवाला, अर्थात् इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति के विकासवाला इष्ट है। ७. **प्राजापत्यः**=प्रजापति के लिए हितकर, अर्थात् जो हमारी वृत्ति को प्रजारक्षणवाला बनाता है, वह **चरुः**=हविर्द्रव्य तैयार करना चाहिए। यह व्यक्ति भी इन यज्ञिय भोजनों को करता हुआ ही तो ऐसा बन सकेगा। ८. **अदित्यै**=न खण्डन करनेवाली **विष्णुपत्नयै**=लक्ष्मी के लिए **चरुः**=वानस्पतिक यज्ञिय भोजन ही इष्ट है। ऐसे भोजनों को करते हुए ही हम लक्ष्मी की आराधना करते हुए भी उसमें आसक्त न होने से स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनोवृत्तिवाले बने रहेंगे। ९. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील के लिए **द्वादशकपालः**=बारह कपालों में संस्कृत हवि चाहिए, अर्थात् वैश्वानर अग्नि बनने के लिए हमें इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्ति का विकास करना चाहिए। १०. अन्त में **अनुमत्या (त्यै)**=अनुमति के लिए **अष्टाकपालः**=आठ कपालों में संस्कृत हवि अभिष्ट है। हम लोक में अनुकूल गति से ही चलें, हमारी गति शास्त्रविरुद्ध मार्ग पर जानेवाली न हो, इसके लिए हम पंचभूतों व मन, बुद्धि, अंहकार सभी को ठीक रखने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार में जीवन को सुन्दर बनाने के लिए पंचभूतों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अंहकार—इन सबका ठीक परिपाक होना चाहिए। साथ ही हम सदा यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें।

सूचना—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति जीवन को यज्ञिय बनाने के उपदेश से हुई है। अब अगले अध्याय का प्रारम्भ इस यज्ञिय भावना को जागरित करने की प्रार्थना से ही करते हैं।

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः॥